

SAT



122153
LBSNAA

लात
L.I

प्रशासन अकादमी
of Administration

मुसूरी
MUSSOORIE

पुस्तकालय
LIBRARY

— 122153

अवाप्ति संख्या
Accession No.

14816

वर्ग संख्या
Class No.

GLH 398.2

पुस्तक संख्या
Book No.

SAT सत्याधी

धरती गाती है

लेखक की अन्य रचनाएं

लोकगीत—

गिद्धा (१९३६)

दीवा बले सारी रात (१९४१)

मैं हूँ खानाबदोश (१९४१)

गाये जा हिन्दुस्तान (१९४६)

Meet My People (१९४६)

कविता—

भरती दीयां वाजों (१९४१)

कहानियाँ—

कुंग पोश (१९४१)

नये देवता (१९४३)

और बांसुरी बजती रही (१९४६)

प्रेस में—

The Plough and the Drum

Songs of the Indian People

धीरे बहो, गंगा !

चट्टान से पूछ लो



धरती गाती है

एक लोकगीत-अध्ययन

देवेन्द्र सत्यार्थी

महात्मा गांधी
और
रवीन्द्रनाथ ठाकुर
के आमुख सहित

मुख्यचित्र : श्री नन्दलाल वसु
रेखाचित्र : श्री सुरीश सेन

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

सर्वाधिकार सुरक्षित

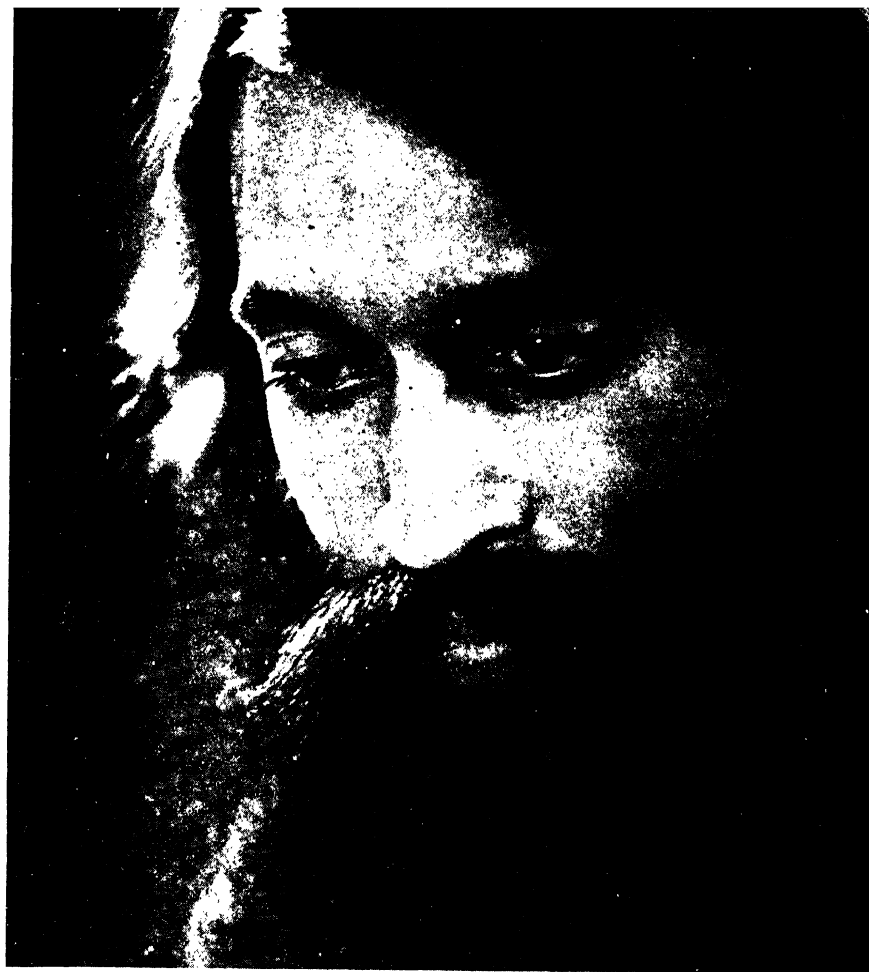
पहली बार १९४८

मुद्रक : गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली ।

प्रकाशक : राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, दिल्ली ।

मूल्य दस रुपये

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को





लेखक अपनी पत्नी और
पुत्री के साथ (१९४०)

सूची

आमुख	...	१
प्रस्तावना	...	५
१ धरती गाती है	...	६
२ दीया जले सारी रात	...	३८
३ ईरावती	...	४६
४ शान्तिनिकेतन	...	५४
५ लंका देश है कोलम्बो	...	६५
६ पृथ्वीपुत्र	...	७४
७ देसां मां देस हरियाना	...	८१
८ गुजराती लोकगीत	...	८८
९ बुन्देलखण्ड मूक नहीं	...	१०७
१० अपनी जोरू को समझा	...	१२४
११ हिरनी की पुकार	...	१३०
१२ रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी	...	१३६
१३ नाचता गाता नेपाल	...	१४३
१४ गढ़वाल का चित्र	...	१६०
१५ भारतमाता	...	१७६
निर्देशिका	...	१८७

आमुख

: १ :

आचार्य देवेन्द्र सत्यार्थी के कंठ से कुछ लोक-कविताएं और लोकगीत सुनकर मुझे आनन्द प्राप्त हुआ। उन्होंने इन गीतोंका संग्रह भारतके सभी प्रदेशों में घूम-घूम कर किया है। यह एक बहुमूल्य कार्य है। साहित्य के अज्ञात क्षेत्र के अन्वेषण के लिए, जिसे जनता के अर्ध-चेतन मन की स्वच्छन्द रचना कहना चाहिए, सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता होती है। यह प्रत्यक्ष है कि आचार्य देवेन्द्र सत्यार्थी संवेदनशील कल्पना की योग्यता रखते हैं, जिसके द्वारा वे अपने कार्य को पूर्ण रूप से कर सके हैं, क्योंकि यह कार्य करते हुए उन्हें सदैव आनन्द अनुभव हुआ है।

लोक-मानस का रचनात्मक पक्ष रहस्योद्घाटन का इच्छुक रहता है। इसके द्वारा अपरिमेय मनोरंजन सम्भव है। यह बात हमें स्पष्टतया अनुभव कराने में आचार्य सत्यार्थी हमारे सहायक हुए। मैं उनका अगाध आभार जानता हूँ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

('माहर्न रियु', सितम्बर १९३४ से)

उत्तरायण

शान्तिनिकेतन, बंगाल

५ दिसम्बर, १९३५

प्रिय सत्यार्थी,

'माहर्न रियु' में प्रकाशित करीब-करीब तुम्हारे सभी लेख मैं पढ़ चुका हूँ। उनकी उच्च प्रामाणिकता के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ। वे ग्रामों में बसे हुए भारत की अन्तरात्मा का दिग्दर्शन करते हैं। संसार के अन्य प्रदेशों में उनका परिचय निम्नलिखित वर्गोंकी है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'एशिया', जो मेरा प्रिय पत्र है, तुम्हारे कुछ लेख प्रकाशित करने जा रहा है।

भवदीय
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

: २ :

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की शानदार धुन के कारण मुझे उनके अपूर्व लोकगीत संग्रह को देखने का अवसर मिला। इसके लिए वे विभिन्न प्रान्तों की यात्रा करते रहे हैं। मुझे स्मरण नहीं कि मैं कभी उनसे मिला हूँ। ये गीत जनता का साहित्य हैं। उन प्रान्तों के मध्यम श्रेणी के लोग इन गीतों से अनभिज्ञ हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे हम गुजराती अपने लोकगीतों से अनभिज्ञ हैं—सच पूछो तो लोकगीत ही जनता की भाषा हैं। सौराष्ट्र के श्री मेघाणी ने काठियावाड़ की लोकवार्त्ता का अनुसंधान किया है। इस अनुसंधान से उस खाई का पता चलता है जो हमारी भाषा और जनता की भाषा के बीचोंबीच स्थित है।

लोकवार्त्ता का सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो मिटती जा रही हैं, यदि यह अब तक वस्तुतः मिट नहीं गई। जनता में जागृति आ रही है। उसने विचार से नहीं, कर्म से श्रीगणेश किया है, जैसा कि मेरे विचार में वह सदैव करती आई है। उसकी भाषा ने अभी एक निश्चित रूप धारण करना है। यह रूप कहीं-कहीं समाचार पत्रों में दिखाई दे जाता है—केवल कुछ-कुछ—पुस्तकों में बिल्कुल नहीं।..... गुजराती भाषा की असंदिग्ध दरिद्रता जनता की दरिद्रता की प्रतीक है। पर वस्तुतः कोई भी भाषा दरिद्र नहीं होती। शेष भारत के समान गुजरात भी चिन्ताग्रस्त है। उसकी भाषा स्वयं एक रूप धारण कर रही है। बहुत सा कार्य प्रतीचा कर रहा है।.....

[श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की
पुस्तक 'गुजरात ऐण्ड इट्स लिटरेचर' (१९३५)
की प्रस्तावना से]

मो० क० गांधी

भाई देवेन्द्र,

तुम्हारे खत की प्रतीक्षा कर रहा था। ठिकाना मालूम नहीं होने के कारण मैं पहले नहीं लिख सका।

गढ़वालियों के ग्रामगीत मैं रस से पढ़ गया था। वैसे ही नेपाल के। मैंने इन्दौर में तुम्हारा बहुत काम कर लिया, ऐसा मेरा ख्याल है। इस बारे में एक प्रस्ताव भी था। प्रस्ताव में तो तुम्हारा और रामनरेश जी का नाम भी लिया गया था। बाद में कार्यकारिणी समिति में जो चर्चा हुई उसके परिणाम में नाम काट दिये। तुम्हारे नाम की तो दरकार नहीं है, काम की है। और वह काम जहाँ तक सम्मेलन का सम्बन्ध था, हो गया। अभी

भी जो कुछ हो सकेगा, वह मैं कर दूँगा। किसी वक्त यहाँ आ जाओगे तो आनन्द आयेगा।
तुम्हारे काम को ज्यादा समझ लूँगा।

जो कुछ भी लिखो मुझे भेजते रहो।

मगनबाबी, वर्धा

मो० क० गांधी

२१-६-१९३५

भाई देवेन्द्र सत्यार्थी,

ग्रामगीतों के बारे में आप जो साहस कर रहे हैं, मुझे प्रिय लगता है। ईश्वर आपको सफलता प्रदान करे।

वर्धा

आपका

१-७-१९३५

मो० क० गांधी

अच्छा तो 'धरती गाती है' की हस्तलिखित प्रति मेरे पास छोड़ जाओ। मैं इसका आमुख लिखूँ, यह तुम्हारा अनुरोध है। यह तो ऐसे ही है जैसे कोई मीठे दूध में एक मुट्ठी चीनी डालने को कहे। इसमें हमेशा स्वाद बिगड़ने का डर रहता है। फिर भी तुम कह रहे हो तो लिख दूँगा।

कहाँ-कहाँ के लोकगीत चुने हैं? सभी गीत तो एक पुस्तक में कैसे समा सकते हैं? मूल-संग्रह को सम्भाल कर तो रखते हो न?

पचास से अधिक भाषाओं के कोई तीन लाख लोकगीत संग्रह कर डालना कोई छोटा काम नहीं। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गए। आने वाली पीढ़ियाँ कवि-हृदय रखने वाले लेखक का स्मरण करेंगी, जिसने धरती के गीत अपनी झोली में भर कर साहित्य के सम्मुख रख दिए।

'विशाल भारत', 'माडन रिव्यू' और 'एशिया' में मैं तुम्हारे लेख बराबर रस से पढ़ता रहा हूँ। बहुत से लेख छूट भी गए होंगे। किसी खेत की मेंढ पर बैठे तुम किसी लोकगीत के चार बोल लिख रहे होगे, या किसी गाँव की कच्ची पगडण्डी पर चले जा रहे होगे—मेंढ हो चाहे धूप, चाहे आँधी—ऐसी कल्पना मैंने कई बार की है।

'धरती गाती है' अच्छा नाम है। इसमें तुम्हारा कवि-हृदय बोल उठा है। सच-मुच लोकगीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियाँ गाती हैं, फसलें गाती हैं, ठरसव और मेले, श्रुतुएं और परम्पराएं—सभी गाती हैं।

गुरुदेव को भी तुम्हारा लोकगीत सम्बन्धी कार्य प्रिय था। आज वे होते तो मैं तुमसे कहता उन्हींके पास जाओ। पर अब यह जिम्मेदारी मुझ पर आ पड़ी है। सचमुच मेरे हाथ में यह पतवार ठीक नहीं चलेगी, ठीक सजेगी भी नहीं।

दिल्ली,

मो० क० गांधी

३० दिसम्बर १९४७ (लेखक से वार्तालाप करते हुए)

आमुख में लेखक की थोड़ी प्रशंसा तो रहनी ही चाहिए। क्यों यह कुछ गलत तो नहीं ! यह कोई मजाक भी नहीं। पर मैं तुम्हारा आमुख लिखूंगा तो तुम्हारी प्रशंसा नहीं करूंगा। हां, लोक गीतों की प्रशंसा अवश्य करूंगा। क्योंकि मैं मानता हूँ कि लोकगीत समूची संस्कृत के पहरेदार होते हैं। जैसे पहाड़ के इस पार से उस पार जाने पर नया ही दरय सामने आता है, एक प्रान्त से दूसरे प्रांत को जायं तो लोकगीतों में थोड़ी बहुत भिन्नता तो होगी ही। कन्या कुमारी में तीन समुद्रों का संगम देखकर मालाबार के किसी लोक-कवि ने अवश्य कुछ गाया होगा। इसी स्थान पर स्वामी विवेकानन्द ने भारतमाता को साष्टांग प्रणाम किया था। कन्याकुमारी का कोई गीत भी तुम्हें मिला ? तीन समुद्रों के संगम के गीत में भारतमाता क्या कहती है, यह मैं अवश्य जानना चाहता हूँ। इस गीत में स्वतंत्रता की कोई पुकार अवश्य होगी। अब तो देश स्वतंत्र हो गया। क्या अभी देश के कानों तक कन्याकुमारी का गीत नहीं पहुँचा। अच्छा अब छुटो। कल फिर आओगे तो ज्यादा बात करूंगा।

दिल्ली,

२८ जनवरी, १९४८ (लेखक से वार्तालाप करते हुए)

मो० क० गांधी

‘धरती गाती है’ के लिए नन्द बाबू द्वारा अंकित मुखचित्र मुझे बहुत पसन्द आया। दूसरे चित्र भी अच्छे हैं। कुछ नये लेख मैं पढ़ गया हूँ। मैंने ब्रजकृष्ण से कहा रखा है कि तुम्हारी पुस्तक की हस्तलिखित ज़िपि मेरे सामने से न उठाई जाय। आमुख में अभी तक नहीं लिख सका। सोचता हूँ, क्या लिखूँ।

सबर का फल मीठा होता है। अधीर होने की तो कुछ दरकार नहीं। समय मिलने पर मैं कुछ लिख दूँगा। खाली लोकगीतों की प्रशंसा लिखने से तो काम नहीं चलेगा। ऊपर-ऊपर की बातें लिखने को भी मन नहीं होता। जिस कार्य में तुम्हारे बीस वर्ष खर्च हुए, उसमें मैं बीस दिन तो ले ही सकता हूँ। तुम कहोगे मुझमें इतना सबर नहीं। अच्छा मैं जल्दी लिखने बैठूँगा। हो सका तो कल सवेरे ही कुछ लिख डालूँगा। ब्रजकृष्ण से कहो मुझे याद दिला दे। कल सवेरे न लिख सका तो वर्षा से लौटकर तो लिखना ही होगा।

दिल्ली,

२९ जनवरी, १९४८ (लेखक से वार्तालाप करते हुए)

मो० क० गांधी

प्रस्तावना

चिर-परिचित शब्द : चिर-परिचित बातें : चिर-परिचित स्वर—यही लोकगीत की शक्ति है। कोई गीत पहाड़ी पगडंडी के समान ऊंचा-नीचा, कोई समतल प्रदेश के दूर तक फैले हुए चित्तोज की छांव लिये हुए। नीरव उदास दोपहरी के गीतों का रंग और होता है, रात्रि के गीतों का और। प्रत्येक ऋतु, प्रत्येक उत्सव, कातने-बुनने के धन्धे, जोताई-बोआई और निराई-कटाई की सामाजिक क्रियाएं—सभी के साथ गीतों के टांके लगे हुए हैं। मकई की रोटी जैसा सूर्य उदय होता है, सांक हो जाती है, रात बीत जाती है, और समय-चक्र के साथ-साथ लोकगीत के पहिये निरन्तर चक्करे रहते हैं। किसी क्रांत धकित युवती का चित्र, जिसका किसी भी काम में जी नहीं लगता, किसी वन प्रांतर का चित्र, एकाकीपन में गुंथा हुआ, मातृ-वत्सलता की कोई कड़ी, ग्रामदेवता का आवाहन, अच्छी फसल के लिए प्रार्थना, किसी रीति-नीति, प्रथा या विश्वास का संकेत, कोई वीरगाथा, प्रेम-गाथा—ऐसी बहुमुखी सामग्री बार-बार लोकगीत के अटपटे शब्दों में प्रस्तुत की जाती रही है—युग-युगान्तर से। लोक-मानस की एक-एक रेखा, सामयिक बोध की एक-एक अवस्था, सामूहिक सुख-दुःख और सामूहिक विजय-पराजय, प्रकृति की गतिविधि, वृष्टि, पशु-पक्षी और मानव के पारस्परिक सम्बन्ध, बलि, पूजा टोने-टोटके—लोकगीतों की पृष्ठभूमि में समाज-विज्ञान के असीम भंडार का अध्ययन किया जा सकता है।

भारतीय लोकगीत अनेक शैलियां प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक जनपद का अपना रंग है, अपना रूप। गहन अध्ययन से यह पता चलते देर नहीं लगती कि ये सभी रङ्ग एक दूसरे के पूरक हैं। समस्त भारत एक है, भारतीय लोकगीत अपनी-अपनी अनेक शैलियों सहित इस तथ्य का समर्थन करते हैं। भाषा और बोली के भेद सब ऊपरी हैं। लोकगीत की चित्र-संज्ञा में भारतीय संस्कृति की एकता दीखती है—अनेकता के भागों के बीचों-बीच गुंथी हुई एकता, ध्वनि-धमत्कार और भाव-व्यंजना की विभिन्न शक्तियों के बीचों-बीच चतुर्दिक फैली हुई एकता।

आज सोचता हूँ कि कैसे इस लघु जीवन के बीस वर्ष भारतीय लोकगीतों से अपनी मोली भरने में बिता दिए, तो स्वयं चकित रह जाता हूँ। कोई विशेष साधन तो था नहीं, सुविधाओं का तो कभी प्रश्न ही नहीं उठा था। मेरी शिक्षा भी कम थी। फिर भी एक लगन अवश्य थी, एक धुन। आज सोचकर भी यह कहना कठिन है कि नये-नये स्थान देखने की, नये-नये लोगों से मिलने की धुन अधिक थी या वस्तुतः लोकगीत संग्रह करने की धुन। जो भी हो, मैंने निरन्तर लम्बी-लम्बी यात्राएं कीं। कई जनपदों में तो मैं दो-दो तीन-तीन बार गया। इन्हीं यात्राओंमें मैंने शिक्षाकी कमी को भी पूरा किया।

मेरा यह दावा बिल्कुल नहीं कि 'धरती गाती है' भारतीय लोकवाक्ता का वैज्ञानिक अध्ययन है। एक खानाबदोश के रूप में मैंने केवल देखे हुए स्थानों और वहाँ के निवासियों के कंठ से सुने हुए लोकगीतों की निजी चर्चा की शैली को अपना ही अधिक उचित समझा। यही मेरे लिए अधिक सम्भव भी था। शायद कहीं-कहीं लोकवाक्ता के वैज्ञानिक अध्ययन का आभास भी मिल जाय। इसके लिए मैं निरन्तर सतर्क नहीं रहा।

प्रायः पाठक का ध्यान विशेषज्ञ के प्रति खिंच जाता है तो भी एक साधारण मनुष्य के स्वाभाविक उद्गारों के प्रति भी उसे कुछ कम कौतूहल नहीं होता। जिन-जिन भाषाओं अथवा बोलियों के लोकगीतों की मैंने चर्चा की है उनके प्रति मैंने अधिक-से-अधिक सच्चा रहने का यत्न किया है। जहाँ भी मैं गया, मैंने किसी-न-किसी दोभाषिए की सहायता से उन सब गीतोंका अनुवाद साथ-साथ तैयार करने का क्रम जारी रखा, प्रत्येक शब्दका अनुवाद, प्रत्येक कड़ी का अनुवाद; क्योंकि इतना धैर्य मुझ में नहीं था कि पहले उस भाषा को पूरी तरह सीख लूँ और फिर गीत संग्रह का कार्य हाथ में लूँ। अनुवाद करते-करते मैं इस प्रयत्न में क्रमशः अधिक-से-अधिक सफल होता चला गया। मैं समझता हूँ विभिन्न भाषाओं का विशेष ज्ञान न होते हुए भी मुझे किसी-न-किसी सीमा तक उन भाषाओं की शक्ति प्राप्त हुई है जिनके गीत मैं संग्रह करने में समर्थ हो सका, भले ही मुझे सदैव किसी-न-किसी का सहारा ताकना पड़ा है। मैं अनेक दोभाषियों और अन्य सहायकों का कृतज्ञ हूँ जिनके अनथक सहयोग द्वारा मैं विभिन्न भाषाओं और बोलियों की खाई को पाट सका। किसी भी भाषा के क्षेत्र में किसी-न-किसी चतुर दोभाषिए के सहयोग से तैयार किया हुआ अनुवाद एक हद तक बहुमूल्य सिद्ध होता है; क्योंकि जब इसकी मदद से मूल गीत का अध्ययन करते हुए बाद में जो सुधरा हुआ अनुवाद प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है वह वस्तुतः किसी ऐसे अनुवाद से टक्कर ले सकता है जो उस भाषा के किसी विशेषज्ञ ने प्रस्तुत किया हो।

अनुवाद भी एक कला है। सचमुच यह बड़ी जिम्मेदारी का काम है। न एक शब्द झुंझाया, न एक शब्द कम; पंक्तिवार अनुवाद; यही है अन्तर्राष्ट्रीय लोकगीत-विशेषज्ञों की शैली। आर्थरवैली ने पुरातन चीनी लोकगीतों के अंग्रेजी के अनुवाद प्रस्तुत करते समय इसी शैली को अपनाया है; भारत में वैरिगर ऐलविन और डब्ल्यू० जी० आर्थर ने गोंड और उराँव लोकगीतों के अंग्रेजी अनुवाद करते समय आर्थरवैली से पग मिठाकर चलने का

प्रयत्न किया है। यही शैली अब हिन्दी में भी प्रचलित होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

लोकगीतों की स्वरलिपि मैं प्रस्तुत नहीं कर सका। इसका मुझे बहुत खेद है। जिस आनन्द से मैंने लोकगीत सुने और लोकनृत्य देखे उसका वर्णन मैंने स्थान-स्थान पर किया है।

श्री रामनरेश त्रिपाठी के लोकगीत सम्बन्धी कार्य से मुझे सदैव प्रेरणा मिलती रही है। युक्तप्रान्त और बिहार के लोकगीत उनके चिर श्रवणी रहेंगे। स्व० सूर्यकरण पारीक, श्री ठाकुर रामसिंह और श्री नरोत्तमदास स्वामी ने सैंकड़ों राजस्थानी लोकगीतों का उद्धार किया है। श्री राम इकबाल सिंह राकेश ने मैथिली और श्री कृष्णदेव उपाध्याय ने भोजपुरी लोकगीतों के लिए अनथक प्रयत्न किये हैं। श्री श्यामाचरण दुबे आजकल छत्तीसगढ़ी लोकगीतों की वैज्ञानिक खोज कर रहे हैं। हिन्दी में लोकगीत-आन्दोलन का भविष्य उज्ज्वल है, यह आशा की जा सकती है। श्री वासुदेवराय अग्रवाल ने भाषा-विशेषज्ञ और कला-पारंगतों के दृष्टिकोण से विभिन्न जनपदों के लोक-संस्कृति और कविता की ओर विशेष रूप से हिन्दी-जगत् का ध्यान आकर्षित किया है। इस दिशा में श्री शिवदान सिंह चौहान ने भी कुछ कम उद्योग नहीं किया।

गांधीजी ने इस पुस्तक का आमुख लिखना स्वीकार किया था। पर इससे पूर्व कि वे कुछ लिख पाते उन्हें बलि की वेदि पर चढ़ जाना पड़ा। इस पुस्तक के सम्बन्ध में उनसे जो वार्तालाप हुआ था वह आमुख में उद्धृत है।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को यह पुस्तक समर्पित करते हुए मुझे विशेष गर्व अनुभव हो रहा है। १९४० में मद्रास की वाई० एम० सी० ए० द्वारा आयोजित मेरे लोकगीत सम्बन्धी व्याख्यान के समय उन्होंने सभापति के आसन को सुशोभित किया और इस कार्य में मेरा उत्साह बढ़ाया। उसी संस्मरण के प्रति कृतज्ञता स्वरूप यह पुस्तक उन्हें समर्पित करता हूँ।

‘विशाल भारत’ के भूतपूर्व सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की मुझ पर विशेष कृपा रही है। इस पत्र के भूतपूर्व सहकारी सम्पादक स्व० ब्रजमोहन वर्मा से उत्साहपूर्वक सहयोग न मिला होता तो शायद मैं हिन्दी लिखने का अभ्यास ही न कर पाता। हिन्दी-भवन, शान्तिनिकेतन के अध्यक्ष श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी और मित्रवर वात्स्यायन ने भी अनेक अवसरों पर बहुमूल्य सुझाव दिये। १९३४ की कारमीर यात्रा के साथी बलराज के सहयोग को क्या मैं कभी भुला सकता हूँ? किस-किस मित्र का नाम गिनाया जाय? मैं सभी मित्रों का चिर श्रवणी रहूँगा।

१००, बेयर्ड रोड, दिल्ली

७ जुलाई, १९४८

देवेन्द्र सत्यार्थी



धरती गाती है

: १ :

मेरी कल्पना में तीन हजार वर्ष पूर्व का चित्र सजीव हो उठता है। आर्यों के काफ़िले पंजाब में प्रवेश कर रहे हैं। इन लोगों के माथों पर लम्बी यात्रा के चिह्न दिखाई देते हैं। मध्य-एशिया के रेगिस्तान पार करते हुए पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते यहां पहुंचना कुछ सहज तो न था। सीमाप्रांत और पंजाब में बस कर उन्हें पयस्विनी नदियों और उपजाऊ धरती की महत्ता का अनुभव होता है। पर आर्य-सभ्यता यहीं तक सीमित नहीं रहती। आदिम निवासियों से मुठभेड़ होती है। उन्हें भगाया जा रहा है। दूर-दूर खदेड़ने की चेष्टा की जाती है। रक्त गिरता है। कौन भला अपनी धरती को आसानी से छोड़ता है ? बार-बार धरती लाज हो उठती है। अप्रतिहत रथ के चक्के और यज्ञकुण्ड की अग्नि—यही आर्य-सभ्यता के प्रतीक हैं। आर्य-सभ्यता का प्रसार इनका आशीर्वाद है। चक्के घूमते हैं। जब एक पड़ाव पर यज्ञ की अग्नि विजयी हो उठती है, रथ और आगे बढ़ता है। आदिम निवासी बार-बार होड़ लेते हैं। पर वे रथ के चक्कों और यज्ञकुण्ड की ज़पटों की रोक-थाम नहीं कर सकते। फिर भी आर्यों को बिहार तक की यात्रा में कई

धरती माती है

शताब्दियां लग जाती हैं। आर्य खुश नज़र आते हैं। बड़े गौरव से धरती पर पैर ठिकाने की इस महान् घटना का गान करते हुए वे इस विशाल देश को सदा के लिए अपना लेते हैं।

समस्त आर्य जनता की ओर से पृथिवी सूक्त का वैदिक कवि कह उठता है—

अजीतोऽहतो अक्षतोऽधृष्टां पृथिवीमहम्

—पृथिवी सूक्त, १२।१।११

—‘मैंने अजीत, अहत और अक्षत रूप में सबसे पहले इस धरती पर पैर जमाया था।

आर्य-सभ्यता के प्रसार की कथा शतपथ ब्राह्मण के पृष्ठों पर आज भी हमारा ध्यान खींच लेती है। इस कथा की रूपरेखा कुछ इस प्रकार है—

राजा विदेघ माधव अग्नि वैश्वानर को अपने मुँह में बंद कर लेता है। राजा का पुरोहित गौतम राहुगण राजा से प्रश्न करता है। पर डर के मारे कि कहीं अग्नि मुँह से चू न पड़े राजा कुछ उत्तर नहीं देता। पुरोहित ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से अग्नि का आवाहन करता है, पर इसका कुछ नतीजा नहीं निकलता। फिर एक मन्त्र में धृत का नाम आने पर मारे लालच के अग्निदेव धरती पर टपक पड़ते हैं। उन दिनों विदेघ माधव का निवास सरस्वती के किनारे था। धरती पर गिरी अग्नि प्रज्वलित होती हुई पूर्व दिशा की ओर चल पड़ती है और विदेघ माधव और गौतम राहुगण उसके पीछे-पीछे हो लेते हैं। रास्ते में अपने प्रज्वलन से नदियां सुखाते हुई अग्नि उत्तर हिमालय से निकली सदानीरा नदी पर आ पहुँचते हैं। यहां अग्नि की ज्वलन-शक्ति शांत हो जाती है। इससे पहले ब्राह्मण इस नदी को पार नहीं करते थे, क्योंकि अग्नि वैश्वानर ने उसे जलाया नहीं था। पर शतपथ ब्राह्मण-युग में अनेक ब्राह्मण नदी से पूर्व में भी रहने लगे थे। सदानीरा नदी के किनारे अग्नि स्थित हो जाती है। इससे पहले सदानीरा के पूरब खेती नहीं होती थी, क्योंकि इधर बहुत से दलदल थे; जिसका कारण था धरती को वैश्वानर अग्नि का साक्षात्कार न होना। शतपथ युग में वहां खेती होती थी और गरमी में भी नदी में ठण्डा पानी ज़ोरों से बहा करता था। राजा विदेघ माधव अग्नि वैश्वानर से अपना स्थान पूछते हैं तो नदी के पूरब की भूमि की ओर इशारा कर देते हैं। शतपथ युग में सदानीरा नदी जिसे आज का युग गण्डक कहकर पुकारता है, कोशल और विदेह की राज्य सीमाओं को अलग करती थी।

—शतपथ ब्राह्मण, १।४।१।१०-१७

पृथिवी सूक्त की आवाज़ आज भी इस विशाल देश में प्रतिध्वनित हो उठती है—

माताभूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः

—‘धरती मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।’

इस वाणी की महत्ता के सम्बन्ध में डा० मोतीचन्द्र का यह कथन सौ बिसवे

ठीक है—“उस महान् सूक्तकार की दृष्टि में उनकी मातृभूमि मिट्टी, पहाड़ों, जङ्गलों, और नदियों से बनी केवल एक महती भूमिखण्ड ही नहीं है। उसके लिए धरती जीती-जागती माता है, जिसके दूध से पलकर हम प्राणवान् होते हैं, जिसके आँचल में छिपी धनराशि को पाकर हम संसार के सुखों को भोगते हैं, जिस पर हम जीते हैं, हँसते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं, और अन्त में मरकर फिर उसी में मिल जाते हैं।”

धरती माता की कल्पना इस देश के आदिम निवासियों पर आयों की प्रथम विजय की प्रतीक है। साथ ही यह इस बात की भी परिचायक है कि मध्य एशिया के रेगिस्तानों के साथ इस देश की शय्य श्यामला की विषमता का अनुभव आयों के लिए अत्यन्त महत्वशाली था।

एक बुँदेखी लोकगीत में धरती माता सम्बन्धी वैदिक कल्पना सजीव हो उठी है—

धरती माता तौने काजर दये
सैंदरन भर लई माँग
पहर हरिअला ठाँड़ी भई
तौने मोह लयो जगत संसार।

—‘हे धरती माता, तुमने आँखों में काजल डाल लिया

सिंदूर से माँग भर ली

हरियाले वस्त्र पहन कर तुम खड़ी हो गई हो

तुमने समस्त संसार को मोह लिया है।’

लोककवि ने पुरातन रेखचित्र में रँग भरते समय चित्र की रूप-रेखा में एक नवीन चेतना प्रस्तुत कर दी है।

हमें फिर से वैदिक कवि का स्मरण हो आता है—

सानो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि

—‘हे मातृभूमि, तुम हिरण्य संदर्शन से हमारे सामने प्रकट हो। तुम्हारी हिरण्यमयी प्ररोचना को भी हम देखना चाहते हैं।’

जहां तक लोकगीत का सम्बन्ध है, यहां भी वही गाथा सुनाई जा रही है। बरिक्त यह कहना होगा कि लोकगीत में चित्र अधिक सजीव हैं। धरती के नारी और माता रूप का मिश्रण बहुत सुन्दर है। आँखों में काजल, माँग में सिंदूर और शरीर पर हरियाले वस्त्र—इस रूप में यदि धरती ने समस्त संसार को मोह लिया तो कोई आश्चर्य नहीं।

यद्यपि इस देश के आदिम निवासी आयों के सम्मुख हार गए थे, परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि आदिम-निवासियों की विजित सभ्यता ने आयों की विजयी सभ्यता पर प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया था। डा० मोतीचन्द्र ने ठीक लिखा है—“यह कहना कठिन है कि पृथिवी सूक्त में देश के प्रति जो विचार प्रकट किये गए हैं, उनमें कितने विचार देश के उन आदिम निवासियों के हैं जिनमें आज दिन भी धरती

धरती गाती है

माता मानी जाती है। बैगा धरती को अपनी माता मानते हैं और इसकी पूजा करते हैं क्योंकि उनके सब देवताओं में केवल धरती माता ही ऐसी है जो बैगों को अपने बच्चों की तरह प्यार करती है (वेरियार एलविन कृत 'दि बैगा' पृष्ठ ५८—५९)। धरती की तरफ उनकी इतनी आस्था है कि उसकी छाती पर हल चलाना वे पाप समझते हैं। शराब पीते समय भी वे अपनी धरती माता को नहीं भूलते और एक बूँद उसे चढ़ाकर शराब पीते हैं। धरती का यह प्रेम केवल वैदिक आयों तक ही सीमित नहीं था। फ़ज़र हमें बताते हैं कि ग्रीस, रोम, चीन, अफ्रीका और अमेरीका में भी धरती पूजा का प्रचार था (फ़ज़र—'दी वर्शिप आफ नचर'-चेप्टर ६-११)। लेकिन वैदिक आयों की मानृभूमि की कल्पना में आधिदैविक और आधिभौतिक विचारों का एक सामञ्जस्य है, जो वैदिक आयों की विचार धारा की एक खास देन है।"

पृथिवी-सूक्त के वैदिक कवि की और हमारा ध्यान बार-बार आकर्षित होता है—
—'हे धरती, तुम हमारे पूर्वजों की भी माता हो। तुम्हारी गोद में जन्म लेकर पूर्वजों ने अनेक विक्रम के कार्य किये हैं।'

—'धरती पर जो ग्राम और अरण्य हैं, जो सभाएं और समितियाँ हैं, जो सार्व-जनिक सम्मेलन हैं, उनमें, हे धरती ! हम तुम्हारे लिए सुन्दर भाषण करें।'

धरती-सम्बन्धी एक पौराणिक कल्पना भी कुछ कम अर्थपूर्ण नहीं है। कहते हैं कि जब-जब धर्म की अवनति होती है और धरती पर अनाचार बढ़ जाते हैं तब-तब धरती गाय का रूप धारण करके देवताओं से धर्म के पुनः स्थापन के लिए प्रार्थना करती है। इसका यही तात्पर्य है कि अनाचार से धरती टिक नहीं सकती। धरती पर सदैव युग-धर्म की विजय होती है। यही युग धर्म धरती का आधार है।

मानृभूमि की शत-सहस्री प्रतिभा ने युग-युगान्तर से न जाने कितनी बार धरती का यशोगान किया है !

बुन्देली किसान की आवाज़ में स्वयं धरती गाती है—

धरती माता तो मैं दो भये
इक आंधी इक मेय
मेय के बरसे साखा भई
जा में लिपट लगे संसार।

—'हे धरती माता, तुरू से दो वस्तुएं उत्पन्न हुईं'

आंधी और मेंह,

मेंह बरसने से खेती उगती है

उसो में संसार जी-जान से लिप्त है।'

एक गुजराती लोकगीत में इससे भी सुन्दर भाव प्रदर्शित किया गया है—

संसार मा बल सरज्यौं इक धरती बीजे आभ
बधाओ रे आविओ !

—‘संसार में दो बलवान् वस्तुओं का सृजन हुआ—एक धरती दूसरे आकाश
बधाई का दिन आ गया।’

इस गुजराती लोकगीत में बताया गया है कि आकाश से जल बरसा और धरती
पर फसलें लहलहाने लगीं। बधाई का दिन आ गया। संसार में दो बलवान् वस्तुओं का
सृजन हुआ। एक गाय, दूसरे घोड़ी। बधाई का दिन आ गया। गाय का पुत्र हल में
जुत गया और घोड़ी का पुत्र परदेस की सैर कराने लगा। बधाई का दिन आ गया। संसार
में दो बलवान् वस्तुओं का सृजन हुआ—एक माँ, दूसरे सास। बधाई का दिन आ गया।
माँ ने मुझे जन्म दिया, सास ने मेरे पति को। बधाई का दिन आ गया संसार में दो
बलवान् वस्तुओं का सृजन हुआ—एक पिता दूसरे ससुर। बधाई का दिन आ गया।
पिता ने मुझे लाड लड़ाया और ससुर ने मेरे हृदय में लज्जा का भाव भर दिया।
बधाई का दिन आ गया।

यह गुजराती लोकगीत समाज का अभिनन्दन-गान है। समाज का आधार धरती है,
जिसपर गाय का पुत्र अगणित शताब्दियों से हल में जुतता आया है।

‘गिद्धा’ नृत्य का एक पंजाबी लोकगीत यों आरम्भ होता है—

धरती जेड गरीब न कोई
इन्दर जेड न दाता।

—‘धरती के समान कोई गरीब नहीं

इन्द्र के समान कोई दाता नहीं।’

धरती उस समय गरीब होती है जब अनाज का भाव इतना गिर जाय कि किसान
के पल्ले उसकी मेहनत का आधा भाग भी न पड़े। भला हो इन्द्र का, जो मेंह बरसा कर
धरती की गरीबी को दूर करने के यत्न में संलग्न रहता है। पर जब तक अनाज ठीक दाम
पर बिकना आरम्भ नहीं होता, किसान की कठिनाई दूर नहीं होती। एक अन्य पंजाबी
लोकगीत में जनता गा उठी है—

कनके ! नी इक्क वेर फेर दस्स खां
मंहगी बन के !

—‘अरे गेहूँ ! जरा एक बार फिर दिखाओ तो
मंहगे बन कर।’

जब जनता यह गीत गाती है तो जैसे जनता के साथ स्वयं धरती माता भी स्वर में
स्वर मिला कर गा उठती है।

देश में अनेक युग आरम्भ हुए और उनका अंत होता रहा। पर धरती का चिर-

धरती माती है

नवीन रूप निहार कर आज भी जनता की आँखें सदैव की भाँति ही तृप्त हो उठती हैं। आज भी जनता को मातृभूमि की धूल प्रिय है। भूरी, लाल और काली मिट्टियों के गीत आज भी हमारे लोक-साहित्य में सुरक्षित हैं। आवश्यकता तो केवल इस बात की है कि एक छोर से दूसरे छोर तक देश की आत्मा को टटोल कर देखने का यत्न किया जाय। अनेक गीतों में वर्षा का अभिनन्दन किया गया है। अनेक गीतों में विभिन्न प्रकार की हवाओं की प्रशंसा की गई है। वृष्टों को उखाड़ फेंकने वाले श्रंधकों को भी इन गीतों में भुलाया नहीं गया। उमड़ते हुए मेघ, कोंधती हुई बिजलियाँ, वर्षा से अप्लावित धरती, ये चित्रपटों की भाँति हमारा ध्यान खींचने लगते हैं। अनेक गीतों में गाय, बैल और भैंस हत्यादि का यशोगान किया गया है। दूध की नदियों की कल्पना बार-बार सजीव हो उठती है।

प्राचीन सूक्तकार अपने सन्मुख धरती का चिर-नूतन और चिरन्तन रूप देख कर गर्बीले स्वरों में गा उठा था—

—‘जिस धरती पर जन-समुदाय नाचता है, गाता है और जय दुःदुभी बजाता हुआ युद्ध करता है, ऐसी मेरी धरती शत्रुओं से मेरी रक्षा करे !

धरती की बन्दना करते हुए सूक्तकार कवि ने अपने पुरखों की अमर-कीर्ति का गान छेड़ दिया था, जिससे अनुप्राणित होकर धरती माता का यश बढ़ा—

—‘हे धरती तुम्हारी जो गन्ध कमलों में बसी हुई है, उस गन्ध से मुझे सुरभित करो।’

—‘हे विश्वम्भरा, वसुधानी हिरण्यमयी धरती, तुम अपने ऊपर बसे हुए संसार की स्थिति का कारण हो। तुम्हारे गूढ़ प्रदेशों में अनेक निधियाँ भरी पड़ी हैं। तुम रत्न और स्वर्ण को देनेवाली हो। तुम्हारी कृपा से राष्ट्र के कोष भरे हैं।’

—‘जिस धरती पर गतिशील व्यापक जन दिन-रात बिना प्रमाद के बह रहे हैं, वह धरती उन अनेक धाराओं को हमारे लिए दूध में परिणत कर, हमें वर्चस्व से सींचे।’

धरती का यह अभिनन्दन आज भी धरती के गीतों में रचा हुआ है। देश का एक-एक प्रान्त, एक-एक छोटा बड़ा जनपद, इस अभिनन्दन में सम्मिलित होता है। जब धरती माता स्वयं अपनी सन्तान के साथ स्वर में स्वर मिला कर गाती हैं तो यां प्रतीत होता है कि समस्त देश एक है और इसकी एकता को कभी चुनौती नहीं दी जा सकती।

: २ :

धरती के गीत सार्वकालिक और सार्वलौकिक होते हैं, क्योंकि इनका निमन्त्रण कभी संकीर्ण नहीं होता। इनकी पृष्ठभूमि में जल-थल-आकाश तथा फल-फूल-शस्य के चित्र अपनी चिर-नवीन छटा दिखाकर देखने वाली आँख पर अपना प्रभाव किये बिना नहीं रहते, चाहे वह व्यक्ति किसी विशेष लोकगीत की जन्मभूमि से हज़ारों कोस की दूरी पर

ही क्यों न रहता हो और भले-ही एक-भाषा में भी गीत का रसास्वादन करने के स्थान पर उसे केवल इसका भावानुवाद ही उपलब्ध हो। परन्तु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि लोकगीत भौगोलिक कारणों से प्रभावित नहीं होते।

यजुर्वेद के एक सूक्त में अन्य मंगलकामनाओं के अन्तर्गत वर्षा ऋतु का आवाहन भी किया गया है, जो वैदिक काव्य पर भौगोलिक प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। यज्ञ के अनन्तर आशीर्वाद देते हुए ब्राह्मण कह उठता है : "हे ब्रह्मन् ! इस देश में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस हों। इस राष्ट्र में राजन्य, शूर तथा महारथियों का जन्म हो। दूध देने वाली गायें, बलवान् वृषभ, वायु की गति से भगने वाले घोड़े तथा साध्वी और वीरप्रसू महिलाएँ हों। सभेय युवक हों तथा रथ पर चढ़कर लड़ने वाले वीर इस देश में पैदा हों। समय-समय पर पर्जन्य हमें वर्षादान करें। फलवती औषधियाँ इस देश में पैदा हों। योग होम से हमारा कल्याण हो।"

पर्जन्य शब्द यहाँ मेघ और इन्द्र दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह महत्वपूर्ण शब्द मुकुर का काम देता है जिसमें भारत जैसा तप्त देश अपने सामूहिक व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित कर उठता है। शत-शत लोकगीतों में अनेक नामों द्वारा इसी 'पर्जन्य' का आवाहन किया गया है।

'पर्जन्य' के बिना इस देश की मुक्ति कठिन थी। वर्षा कितनी सुखकर होती है यह केवल एक तप्त देश के निवासी ही अनुभव कर सकते हैं। इसी भौगोलिक प्रभाव के कारण कदाचित् आर्यों के इस देश में आने से पूर्व यहाँ के आदि-निवासियों के लोकगीतों में वर्षाऋतु के प्रीतिकर भावों का उदय हो चुका होगा। 'नेह बादल' उमड़ने की कल्पना इस देश में युग-युग से चली आती है। 'मेघवूत' का विरही यत्न किस प्रकार एक मेघ द्वारा अपना सन्देश अपनी प्रेयसी के पास भेजता है, यह केवल परम्परागत काव्यधारा का परिष्कृत रूप है। अनेक फुटकर गीतों में देश की सामूहिक आत्मा ने मेघों का सम्बोधित किया है।

श्री नन्दलाल वसु ने एक चित्र में सन्थाल गायकको अपने वाद्य-यंत्र पर इतनी शीघ्रता से गज़ चलाते हुए दिखाया है कि बरबस इसकी ओर देखने रहने से यही ध्यान आता है कि यन्त्र के तार न जाने किस समय टूट जायें। गायक के समीप एक वैरागी ध्यानमग्न बैठा है और उसे यह परवाह नहीं कि उसका कमण्डल किधर लुढ़क गया। भोंपड़ी की छत से एक पिंजरा लटक रहा है जिसमें कदाचित् बन्दी पंखों को वह दिन याद आगए हैं जब वह स्वतन्त्र विचरता था। आकाश मेघाच्छन्न है। इस चित्र पर प्रथम आषाढ़ की तिथि का उल्लेख हुआ है जो प्रतीक रूप से उस शुभ दिवस की याद दिलाती है जब कालीदास ने मेघवूत की रचना आरम्भ की थी। निश्चय ही यह सन्थाल गायक मल्हार या मेघ-मल्हार के स्वर छेड़ रहा है। अनायास ही हमारा ध्यान रवीन्द्रनाथ के एक लोकप्रिय गान की अंतिम पंक्तियों की ओर चला जाता है—

धरती गाती है

ये शाखाय फूल फोटे न फल धरे ना एकेबारे
तोमारि बादल बाये दिक जगाये सेइ शाखारे ।
या किछु जीण आमार दीण आमार जीवनहारा
ताहारि स्तरे स्तरे पडुक भरे सुरेर, धारा ।
निशिदिन एई जीवनेर तृषार, परे भुखेर परे
आवणेर धारार मतो पडुक भरे पडुक भरे ॥

— 'जिस शाखा पर फूल नहीं खिलते, फल नहीं लगते
तुम्हारी यह बादल-हवा उस शाखा को जगा दे
जो कुछ भी मेरा फटा-पुराना है, निर्जीव है
उसके प्रत्येक स्तर पर तुम्हारे स्वरों की धारा झड़ती रहे
दिन-रात इस जीवन की प्यास पर, भूख पर
यह सावन की झड़ी के समान झड़ती रहे, झड़ती रहे ।'

यह कहना सहज नहीं कि यूरोप में, जहाँ वर्षा शीत-ऋतु में होती है और प्रायः अनिष्ट की प्रतीक है, 'क्रोध के बादल' या 'युद्ध के बादल' की कल्पना के स्थान पर कोई कवि रवीन्द्रनाथ के स्वरों में प्रीतिकर 'बादल-हवा' का आवाहन कर सकता है। इस श्रेणी के लोकगीत भी 'बिरादरी के भोज' के समान हैं, क्योंकि इनका वास्तविक रस उन्हीं देशों के लोग चख सकते हैं जहाँ प्रकृति ने जल-वायु की यही व्यवस्था कर रखी है।

देश, काल और पात्र से लोकगीत की वास्तविक पहचान की जा सकती है। इसी कसौटी पर इसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए। लोकगीत की जड़ें जिस देश में, धरती में टिकी होती हैं, उसी देश की संस्कृति का ही वह गीत प्रतिनिधित्व करता है। जिस मिट्टी से देश की सामूहिक प्रतिभा उपजती है, उसीके अनुरूप इसमें रसबोध होता है, प्रेरणा होती है, संस्कृति के प्रति आस्था होती है।

वैसे तो भारत में प्रत्येक ऋतु का पृथक् संगीत है। प्रत्येक ऋतु-उत्सव देश के सामूहिक सौंदर्यबोध का परिचायक है। बंगाल में शरद् ऋतु के साथ युग-युग से धान के खेतों और पशु-वनों का सौंदर्य उपभोग करने की परम्परा चली आती है। वसन्त में टेसू और सेमल का मेला देखना किसे रुचिकर न होगा? इसी प्रकार अमलतास के फूल ग्रीष्म के प्रतीक हैं। पावस या वर्षा में मेघाच्छन्न आकाश लोकगीत के लिए सामग्री जुटाता है। किसी-न-किसी रूप में भारत का प्रत्येक जनपद 'वर्षा-मंगल' की प्रेरणा से झूम उठता है।

वर्षा में मल्हार गाया जाता है। ब्रज में सावन के गीत आज भी 'मल्हार' कहलाते हैं। इनको लक्ष्य में रखते हुए यह बात कही जा सकती है कि 'मल्हार' आरम्भ में लोक-संगीत की वस्तु रहा होगा। आज भी कांगड़ा और शिमला के पहाड़ी प्रदेश में 'मंझोटी' और पूर्व बंगाल में 'भटियाल' प्रचलित है। इससे यह अध्ययन किया जा सकता है कि किस

प्रकार लोक-संगीत का उपादान धीरे-धीरे परिष्कृत होकर उच्च, सर्वसम्मत संगीत में प्रवेश करता रहा है। परन्तु यह विषय अभी अधिकारी अन्वेषकों द्वारा विचार करने का है। तानसेन के सम्बन्ध में यह किम्बदन्ती प्रचलित है कि दीपक राग गाने के कारण उसका समस्त शरीर झुलसा जा रहा था और वह इस तलाश में भटक रहा था कि कोई शुद्ध मल्हार गाकर उसे शीतल कर दे। कहते हैं कि एक कृषक युवती ने मल्हार गाकर उसकी वेदना को शान्त किया। इससे पता चलता है कि वह उस युग की बात है जब मल्हार ने उच्च संगीत में नया-नया प्रवेश किया होगा, और उस समय तानसेन जैसे सङ्गीतज्ञ इस बात को स्वीकार करते थे कि इसका मूल-स्रोत लोक-सङ्गीत ही है।

ब्रज के दो मल्हार गीत अर्थगांभीर्य के अछूते उदाहरण हैं—

इन्द्र राजा

चौकी तो चन्दन, इन्द्र राजा, बैठनो जी
एजी कोई दूध पखारूंगी पाय
आज मेहर कर, इन्द्र राजा, देश में जी।
चामर राधू, इन्द्र राजा, ऊजरे जी
ए जी कोई हरी मगोरी धोवादार
आज मेहर कर, इन्द्र राजा, देश में जी।
ध्यौ भरी ताड़ जी इन्द्र राजा, तामनी
ए जी कोई पापर सेकूंगी चार
आज मेहर कर, इन्द्र राजा, देश में जी।
जैमत निरखूँजी, इन्द्र राजा आंगुरी जी,
ए जी कोई चलते निरखूँगी चाल
आज मेहर कर, इन्द्र राजा, देश में जी।
पंचरंग पलिका, इन्द्र राजा, पौढ़नो जी
ए जी कोई गलीचा भालरदार
आज मेहर कर, इन्द्र राजा, देश में जी।

मेघासिन रानी का गीत

रानी, ऊँचो तो चौरो चौखनो
दूध पन्नारूंगी पाय
मेघासिन रानी कित गई जी ?
रानी, हारीन छोड़ी हाथा हेली
मेघासिन रानी कित गई जी ?
रानी, भैयन छोड़ी हैं बहिन

मेघासिन रानी कित गई जी ?
 रानी, बैलन जूआ डारिओ
 मेघासिन रानी कित गई जी ?
 रानी, नारिन त्यागें हैं पीऊ
 मेघासिन रानी कित गई जी ?
 रानी, गायन बछड़ा छोड़ियौ
 मेघासिन रानी कित गई जी ?
 रानी, भैंसिन सूखौ है दूध
 मेघासिन रानी कित गई जी ?
 रानी, आय इन धीर बंधाइयौ
 मेघासिन रानी कित गई जी ?
 और बरसौ गहर गंभीर
 मेघासिन रानी कित गई जी ?

वैदिक देवमाला में इन्द्र का स्थान अन्तरिक्ष है और वह जल बरसाता है । पहले गीत में उसका आवाहन करते हुए गाँव की स्त्री कहती है—मैं तुम्हें चन्दन की चौकी बैठने को दूँगी और दूध में तेरे पाँव धोऊँगी । उजले चावल पकाऊँगी और मूँग की धुली हुई दाख होगी । ताम्बे की कटोरी में घी गरम करूँगी और चार पापड़ भी सेकूँगी । तुम भोजन खा रहे होगे और मैं तुम्हारी उँगलियों की ओर निहारूँगी । तुम चलोगे तो तुम्हारी चाल देखूँगी । पंचरंग पलंग पर झालरदार गिलम गलीचा बिछाकर तुम्हें सोने के लिए कहूँगी । बस हमारे देश पर आज दया दिखा दो..... दूसरे गीत में इन्द्र राजा ही का स्त्री-रूप है 'मेघासिन रानी' । ठीक समय पर वर्षा न होने पर जनता की जो अवस्था होगी उसकी एक झलक यहाँ उपस्थित की गई है..... मेघासिन रानी कहाँ चली गई ? यह प्रश्न उग्र हो उठा है । चोरों ने हथफेरी छोड़ दी । भाइयों ने बहिनों को त्याग दिया । बैलों ने जूआ गिरा दिया । नारियों ने पतियों को त्याग दिया । गौओं ने बछड़े छोड़ दिये । भैंसों का दूध सूख गया । रानी, आओ और धीर बंधाओ और गहर गंभीर वर्षा बरसाओ ।

ऋग्वेद में पर्जन्य के स्तुति-गान में एक स्थान पर एक स्वर होकर आर्य जनता कह उठी थी—

'हे पर्जन्य, तुम्हारे प्रसाद से ही नानाविध औषधियाँ विश्व-विचित्र रूप में उठी हैं । हमारे जीवन में भी तुम नित्य विचित्र कल्याण-दान करो । जब तक तुम नहीं आये थे, तब तक समस्त धरती मरी हुई, सूखी हुई सपाट थी । तुम्हारे आते ही सब कुछ नाना रस, नाना भावों से भर उठा ।'

यद्यपि इस सभ्यता के युग में अनेक स्थानों पर नहरें खुद गई हैं जिनकी सहायता

से कृषिसेवी भारत ने बहुत कुछ उन्नति भी की है। पर सच पूछो तो 'पर्जन्य' या 'इन्द्र' की सहायता की आज भी उतनी ही आवश्यकता अनुभव की जाती है जितनी कि वैदिक युग में की जाती होगी।

मिथिला के लोकसंगीत की चर्चा करते हुए श्री राकेश लिखते हैं : "मलार पावस ऋतु में स्त्री पुरुष दोनों गाते हैं। लेकिन दोनों के गाने के ढंग अलग-अलग हैं। औरतें इन्हें गाने के वक्त किसी साज-बाज की मदद नहीं लेतीं। हिंडोले पर बैठकर वे सम्मिलित स्वरों में गाती हैं। पुरुष साज-बाज की मदद से गाते हैं, और जब वे पंचम में पूरी आवाज़ के साथ राग अलापते हैं तब कभी-कभी तबले और मृदंग (थाप के चोट से) कड़क कर टूक-टूक हो जाते हैं।"

निम्नलिखित मैथिली लोकगीत में इन्द्र देवता का आवाहन किया गया है—

हाली-हुलु बरसू इनर देवता
पानी बिनु पड़इ छइ अकाले हो राम !
चौर सूखल, चांचर सूखल,
मूखि गेलइ भइआ के जिराते हो राम !
रांडी बमनिआ हरवा जोतइ छइ
फरवा उल्लटि अड़िया लगइ छइ हो राम !
हाली हुलु बरसू इनर देवता
पानी बिनु पड़इ छइ अकाले हो राम !
धोबिआ आंगन में गादर गुदर पनिआ
ओही में नहाये सब बमना हो राम !
धोतिया फौंचल जनेऊआ सोटल
रची-रची तिलक चढ़ावे हो राम !
हाली हुलु बरसू इनर देवता
पानी बिनु पड़इ छइ अकाले हो राम !
जनमा के धीआ-पुता कलह-मल्ह करइ छइ
मालिक सब बेड़ियो न खोलइ छइ हो राम !
गांव के पटवरिया भूठे-मूठे लिखइ छइ
सरले खेसारी बन तौलइ छइ हो राम !
हाली हुलु बरसू इनर देवता
पानी बिनु पड़इ छइ अकाले हो राम !

—'रिमझिम बरसो, इन्द्र देवता,

पानी के बिना दुभिच पड़ रहा है, अहो राम !

हरे-भरे मैदान सूख गए, नदी-नाले और ताखाब सूख गए

धरती गाती है

मेरे भाई की हरी कसल से भरने वाले खेत भी सूख गए, अहो राम !

विधवा ब्राह्मणी भी हल जोतने लगी ।

फाल उछल-उछल कर ण्डियों में लग जाती है, अहो राम !

रिमरिम बरसो, इन्द्र देवता,

पानी के बिना दुर्भिक्ष पड़ रहा है, अहो राम !

केवल धोबी के आँगन में गँदला और मैला पानी रह गया है,

उसी में सब ब्राह्मण स्नान कर रहे हैं, अहो राम !

उसी जल में वे धोती कचारते हैं, उसी में जनेऊ सोंटते हैं,

उसी में रच-रच कर चन्दन लगाते हैं, अहो राम !

रिमरिम बरसो, इन्द्र देवता,

पानी के बिना दुर्भिक्ष पड़ रहा है, अहो राम !

मजूरों के बालक भूख से किलबिल कर रहे हैं

मालिक अपनी खत्तिओं को नहीं खोलते, अहो राम !

गाँव के पटवारी झूठ-मूठ लिख रहे हैं

मजूरों की मजूरी में वे गली-सड़ी खेसारी तोल रहे हैं, अहो राम !

रिमरिम बरसो इन्द्र देवता,

पानी के बिना दुर्भिक्ष पड़ रहा है, अहो राम !

श्री राकेश लिखते हैं : “यह गीत मिथिला में वैशाख और जेठ महीने में, जब कभी पानी नहीं बरसता और दुर्भिक्ष की सम्भावना दीखती है, चाँदनी रात में गाया जाता है। इसे केवल बालिकाएं गाती हैं, और इसमें वर्षा के देवता इन्द्र की स्तुति की जाती है। जिस रात में स्तुति की जाती है, उसके सुबह में एक छोटी-सी बच्ची उपवास करती है। फिर वह रात्रि में ओखली पर बैठकर और दाहने हाथ में एक पवित्र जल पात्र लेकर इन्द्र का ध्यान करती है, क्योंकि उसका विश्वास है कि जब जलपात्र छलकने लगेगा तो दुर्भिक्ष मिट जायगा और वर्षा होगी।”

पंजाब में भी सावन या झूले के गीत यहाँ के स्त्री-गीतों में विशेष स्थान रखते हैं। सुख-सौन्दर्य-प्रेम के इन तरानों की पृष्ठभूमि में जल-थल-आकाश का सौन्दर्यबोध बार-बार थिरक उठता है। बार-बार मेघों से बातें की जाती हैं। एक गीत के आरम्भ की कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

बरसीं ताँ बरसीं मीहां मेरे बाबल दे देस,

होर बी बरसीं सौहरे क्यारिणँ ।

बरसिया ताँ बरसिया बीबी तेरे बाबल दे देस

होर बी बरसिया बीबी सौहरे क्यारिणँ ।

—‘बरसना, बरसना, हे मेघ, मेरे पिता के देश में

और ससुराल की क्यारियों पर भी बरसना ।'

'मैं बरस आया हूँ, बरस आया हूँ, हे कुलवधू, तेरे पिता के देश पर
और बरस आया हूँ, हे कुलवधू, तेरे ससुराल की क्यारियों पर भी ।'

मेघ के साथ यह आत्मीयता लोकगीत की बहुमूल्य साधना की प्रतीक है । अब एक
गीत चम्बा के पहाड़ी प्रदेश के सुखदुःख की मर्मगत वाणी लिए हुए उपस्थित है—

गड़क चमक भाइया मेघा हो
बरह चमियालां दे देसां हो
कीहां गड़कां कीहां चमकां हो
सुरग भरोरा तारे हो ।
कुथवे दा आई काली बादली हो
कुथवे दा बरसिया मेघा हो
छाती दी आई काली बादली हो
नैणां दा बरसिया मेघा हो ।

—'गरज और चमक, अहो भैया मेघ !

चम्बा के देश पर वर्षा कर ।'

'अहो मैं कैसे गरजूं, कैसे चमकूं ?

अहो अकाश तो तारों से भरपूर है ।'

'अहो कहाँ की काली बदली आई है ?

अहो कहाँ का बादल बरस गया ?'

'अहो वनःस्थल की काली बदली आई है

अहो नयनों का मेघ बरस गया ।'

सिन्धी लोक-संगीत में भी मेघ का आवाहन एक चिर-नवीन पद्धति है । यहाँ तक
कि सिन्ध के सूफी कवि शाह लतीफ की रचनाओं में भी इसकी प्रेरणा का समावेश नज़र
आता है—

सारंग सार लहज अलहा लग उजन जी,
पाणी पवज पटन में अरजान अन्न करेज;
वतन वसाएज तस संधारण सुख थिए ।
सारंग, साए सिट्ट जैहड़ी लाली लाख जी,
एन से उबन अग्या जिअसे चने चिट्ट;
बरस्यो पासे भिट्ट भरचाँ छुन्न किराड़ जा ।

—'हे मेघ, अल्ला के लिए प्यासों की सार लो,

खेतों में पानी बरसा और अन्न को सस्ता कर

धरती जाती है

वतन को बसा ताकि सुख ही सुख हो जाय ।

हे मेघ, एकदम बरस (ताकि हरियाली छा जाय), जैसे लाख की लाली होती है ।

जो नंग-धड़ंग घूम रहे हैं वे भी वर्षा होने से भीगे हुए चनों की भांति फूल जायें ।

‘भिद’ की ओर बरस ताकि बनियों के मटके अनाज से भर जायें ।’

लोकगीत अपनी ही साधना से बड़ा है । अपनी ही प्रेरणा से महामहिम है । जिस प्रदेश में वर्षा कम होती है, वहाँ के लोक गीतों में वर्षा सम्बन्धी गीतों की रचना में कुछ भी कमी नहीं हुई । राजस्थान ही को लीजिये । यहाँ भी इन्द्र को बराबर निकटतम आत्मीय स्वजन की भाँति बुलाया जाता है । राजस्थानी गीतों की एक विशेषता यह भी है कि बादल के स्थान पर ‘बदली’ को विशेष महत्व दिया गया है । बादल आये न आये, छोटी-मोटी बदली तो अवश्य ही बरस सकती है । उत्तरी हवा और ‘पुरवा बहिन’ का अलग आवाहन किया गया है । इस प्रकार आप-से-आप ‘गान गाने की कविता’ के साथ-साथ ‘चित्र देखने की कविता’ की भी सृष्टि हुई है । ‘पुरवा बहिन’ का चित्र सुरक्षित है, भले ही ‘पुरवा बहिन’ को राजस्थानी युवतियों और पनिहारियों पर दया न आये । इस एकमात्र चित्र में राजस्थानी संस्कृति केन्द्रित हो गई है । जी कह उठता है कि ऐसे ही चित्रों से तो लोकगीत महामहिम है ।

मेघों के साथ किसान का मिलनसूत्र जुड़ते ही चारों ओर का चित्रपट प्राणवान नज़र आने लगता है । मेघ किसान के मित्र हैं, भले ही वे देर से आयें या किसी कारणवश अधिक समय तक आतिथ्य स्वीकार न कर सकें । पावस ऋतु में हर कोई उनके शकुन मनाता है । ‘चितरङ्ग’ सरोवरों को मुंह तक छलकाने का सामर्थ्य मेघों के सिवा और किस में है ? इन्द्र की गरज सुनने के लिए समस्त देश जागरूक दीखता है ।

नवीन शिशु की भाँति किसान की आँखें आकाश की ओर उठ जाती हैं, उसकी आत्मा में अपार आशा उमड़ती है । रेत में हल चलाया जा रहा है । यह सब आयोजन किस लिए है ? इस निपुणता की कहाँ तक प्रशंसा की जाए ? इसी रेत से अन्न उपजेगा । इन्द्र आखिर इन रेत के टीलों को भुला तो नहीं देगा । यह मोठ-बाजरे का देश है । इसी मोठ बाजरे के कारण राजस्थानी लोकगीत महामहिम है ।

राजस्थानी वर्षा-गीत सौंदर्यबोध और हृदयावेग के सजीव चित्र हैं—

१. बादलियो घररावै छै

बादलियो घररावै छै
आया आया जेठ असाड, ओ स्याम,
इन्दरियो घररावै छै
मेहां री भल आई, ओ स्याम,
बादलियो घररावै छै ।

हलिया रो साज संवारो ओ स्याम,
 इन्दरियो घररावै छै ।
 जेली रे दोय सीगा दिवाव
 गंडासी रे मूँ करवाव ओ स्याम,
 इन्दरियो घररावै छै ।
 हाल सजाव ओ हलिया सजाव,
 हलिया रे हाथ ली दिवाव ओ स्याम
 बादलियो घररावै छै ।
 कुस मंगवाव चऊ घड़वाव,
 वागड़ां री आड़ लगाव ओ स्याम,
 बादलियो घररावै छै ।
 ओरगू सजाव वी भोलो सिमाव,
 तो वीकाणै रा बीज मंगाव ओ स्याम,
 बादलियो घररावै छै ।
 सौ बीघां में वावो अरड़ बाजरो
 सौ बीघां में कोडयाली जवार ओ स्याम,
 बादलियो घररावै छै ।
 सौ मन नियजै मोठ बाजरो
 अड़की नियजै कोडयाली जवार ओ स्याम,
 बादलियो घररावै छै ।
 मेहां री भल आई ओ स्याम,
 इन्दरियो घररावै छै ।

—‘बादल गरज रहा है ।

आया, आया ज्येष्ठ आषाढ़, ओ स्याम,
 इन्दर गरज रहा है ।
 मेहों की ऋतु आ गई, ओ स्याम,
 बादल गरज रहा है ।
 हल का साज संवारो, ओ स्याम,
 इन्दर गरज रहा है ।
 ‘जेली’ में दो सींग दिलवाओ,
 ‘गंडासी’ का मुँह करवाओ, ओ स्याम,
 बादल गरज रहा है ।
 ‘कसी’ मंगवाओ, ‘चऊ’ बनवाओ,

धरती माती है

'बाढ़' की आढ़ लगाओ, ओ श्याम,
बाढ़ल गरज रहा है ।
ओरण सजाओ, बीझोली सजाओ,
बीकानेर से बीज मंगवाओ, ओ श्याम,
बाढ़ल गरज रहा है ।
सौ बीघों में अरब बाजरा बोओ
सौ बीघों में कौड़ी-से दानों वाली ज्वार, ओ श्याम,
बाढ़ल गरज रहा है ।
सौ मन मोठ-बाजरा पैदा हो,
खूब कौड़ियाली ज्वार पैदा हो, ओ श्याम,
बाढ़ल गरज रहा है ।
मेहों की अतु आ गई, ओ श्याम,
इन्दर गरज रहा है ।'

२. मारू जी रै खेतां जावो वदली

मारू जी रै खेतां जावो वदली ।
टीबां वरसो डैरयां वरसो,
तो चितरंग ताल छिलावो वदली
मारू जी रै खेतां जावो वदली !
जेठ उतरियो साढ उतरियो,
तो सावन उतरयो जाय वदली,
मारू जी रै खेतां जावो वदली !
सारै सारै दिन थारा सूण मणावै,
तो ऊभा जोवै थारी वाट वदली,
मारू जी रै खेतां जावो वदली
भागी दोड़ी जावो भागी दोड़ी आवो,
तो समदां सू जल भर लावो वदली,
मारू जी रै खेतां जावो वदली !
वादलिवां रो दल संग ले ल्यो,
तो दोय गेडा कर जावो वदली,
मारू जी रै खेतां जावो वदली !

—'प्रियतम के खेतों पर जाओ, हे वदली !

टीबों में वरसो, मैदानों में वरसो,

चितरंग तालाबों को ऊपर तक भर दो,
 प्रियतम के खेतों पर बरसो हे बदली !
 ज्येष्ठ बीत गया, आषाढ़ बीत गया,
 सावन बीत रहा है,
 प्रियतम के खेतों पर बरसो, हे बदली !
 सारे-सारे दिन लोग तुम्हारे शकुन मनाते हैं,
 खड़े होकर तुम्हारी बाट जोहते हैं, हे बदली,
 प्रियतम के खेतों पर बरसो, हे बदली !
 दौड़ती हुई जाओ, दौड़ती हुई आओ,
 समुद्रों से पानी भर लाओ, हे बदली,
 प्रियतम के खेतों पर बरसो, हे बदली !
 बादलों का दल साथ में ले लो,
 दो गोड़े (खेप) कर जाओ, हे बदली,
 प्रियतम के खेतों पर बरसो, हे बदली !'

३. मारूजी भाला दियै बदली

मारूजी भाला दियै बदली !
 म्हारे डैरां वरसण आव बदली,
 मारूजी भाला दियै बदली !
 बाईं मत जायै छाखीयै मत जायै
 तो सीधी म्हारे डैरा आयै बदली,
 मारूजी भाला दियै बदली !
 रीति मत आयै पाणी भर लायै
 तो सूरया के संग आवै बदली,
 मारूजी भाला दियै बदली !
 होलै मत वरस्यै ठाढ़ां मत वरस्यै
 तो दूधां भड़्डी ए लगायै बदली,
 मारूजी भाला दियै बदली !

—'प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !
 हमारे खेतों पर बरसने आओ, हे बदली,
 प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !
 बाईं ओर मत जाइयो, दाहिनी ओर मत जाइयो,
 सीधे हमारे खेतों पर आओ, हे बदली,

धरती माती है

प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !
खाली मत आइयो, पानी भर कर लाइयो,
सूरया (उत्तरी हवा) के साथ आइयो, हे बदली,
प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !
धीरे मत बरसियो, वेग से मत बरसियो,
दूध की सी ऋषी लगाइयो, हे बदली,
प्रियतम हाथ के संकेत से तुम्हें बुला रहे हैं, हे बदली !

४. चनेयक चालो परवा भाण

चनेयक चालो परवा भाण !
मेहां री महां रे लग रही चाय,
चनेयक चालो परवा भाण !
दोय घड़ी जे रलको देखै तो
ताली भर ज्याय आंगण मांय,
चनेयक चालो परवा भाण !
दोय घड़ी जे रलको देखै तो
बंधिया पाड़ा पीवै ठाण
चनेयक चालो परवा भाण !
दोय घड़ी जे रलको देखै तो
छिल-छिल भर ज्याय सरवर ताल,
चनेयक चालो परवा भाण !
दोय घड़ी जे ईकलेग चालै तो
बोदी दुनिया सा जी ज्याय,
चनेयक चालो परवा भाण !

—‘तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !
हमारे मेहों की चाह लग रही है,
तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !
जो तुम दो घड़ी के लिए रलका दे दो (चल पड़ो) तो
आंगन में तालाब भर जाय,
तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !
जो तुम दो घड़ी के लिए रलका दे दो तो
भैंस के बच्चे थानों पर बंधे-बंधे ही जल पी लें
तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !

जो तुम दो घड़ी के लिए रत्नका दे दो तो
सरोवर और तालाब ऊपर तक भर जायँ,
तनिक चलो हे पुरवा बहिन !
जो तुम दो घड़ी बराबर चलती रहो तो
यह फुसफुसी दुनिया फिर से जीवित हो उठे,
तनिक चलो, हे पुरवा बहिन !'

५. सूरया उडी वादली ल्याई रे

सूरया, उडी वादली ल्याई रे !
भाला दे-दे तोय बुलाऊँ
तूँ म्हारै देसां आई रे,
सूरया, उडी वादली ल्याई रे !
जेठ न आइये साढ़ न आइये
सावन अलबत आई रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !
पग-पग पाणी पालर कर दे
तो सिर वादलियां छाई रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !
पिणियारयां खुसियाली कर दे
घर में ताल भराई रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !
पिणियारयां तोय धरां उडीके
हाली खेतां माई रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !
बूढ़ा ठेरा पून पिछाणै
तूँ दोय भोलावे ज्याई रे,
सूरया उडी वादली ल्याई रे !

—'हे सूरया (उत्तरी हवा), उड़ना और बदली जाना !
हाथ के संकेत दे-दे कर तुझे बुझाती हूँ,
तू हमारे देश में आना,
हे सूरया, उड़ना और बदली जाना !
ज्येष्ठ में मत आना, आषाढ़ में मत आना!
अलबत्ता सावन में आना,

धरती माती है

हे सूरया, उड़ना और बदली लाना !
पग-पग पर वर्षा का जल भर देना
सिर पर बदलियों को छा देना,
हे सूरया, उड़ना और बदली लाना !
पनिहारियों घरों में तुम्हारी प्रतीक्षा करती हैं
और किसान खेतों में,
हे सूरया, उड़ना और बदली लाना !
बड़े बूढ़े पवन की प्रतीक्षा करते हैं
तू दो झोले दे जाना,
हे सूरया, उड़ना और बदली लाना !

धरती के गीत जाग्रत जनता के प्रतीक हैं। इन पर गांवों, खेतों और खलिहानों की छाप है। इसमें जन्मभूमि की गौरवशाली और यशस्वी आत्मा की पुकार निहित है। इनमें एक विशाल संस्कृति का गर्वीला इतिहास अभिव्यक्त हुआ है। इनमें गति भी है, तीव्रता भी, और मर्म को छू सकने की शक्ति भी।

कला और जन-जीवन का निकटतम सम्बन्ध धरती के गीतों की विशेष पहचान है। जिस कला की जड़ें मातृभूमि की मिट्टी में टिकी होती हैं, उस कला का रंग और होता है, उसमें जनता की सामूहिक प्रतिभा और रचना का आभास मिलता है। कला की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि हम लोक-कला से परिचित ही न हों बल्कि इससे प्रेरणा भी लें।

प्रथम वर्षा के पश्चात् धरती से उठने वाला सौंधा सौरभ धरती के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है। यही सौरभ जन्म-भूमि की कल्पना में सबसे अधिक सहायक है।

: ३ :

जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी प्रिय हैं। यह रामायण का सन्देश है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' यह धरती का अभिनन्दन है। धरती सब देखती है। विरोध नहीं चाहिए। सहयोग अच्छा है। शत-शत जनपद और सहस्र-सहस्र ग्राम इसी एकता के सूत्र में बंधते चले गए। जीवन और कला का गठबन्धन हुआ। धरती एक खुली हुई पुस्तक बनी। इतिहास-विधाता मेघगम्भीर स्वर्णों में धरती की गति-मति ही की गाथा सुनाने लगा। सहज ब्राह्म रूप से विशाल जनसमूहों और विस्तृत भूखण्डों को पढ़ने की महती चेष्टा अथवा धरती के साथ एक होकर प्राणवान् बने रहने का चिरंजीवी आदर्श साकार हो उठा। क्रौंच-मिथुनमें अहेरीके तीर द्वारा बाधा पड़ते देखकर बाल्मीकिजी जो महान् कष्ट हुआ, वह इसी आदर्श का प्रतीक है। आदि कवि को परम्परा से हट कर नवीन छन्द मिल गया। कवि हृदय उन्मत्त हो उठा। छन्द के अनुरूप विषय नहीं सूझ रहा था। धूमते-धूमते कवि का नारद से साक्षात्कार हुआ। नारद बोले, 'ऋषिवर ! तुम्हें अमृत्यु छन्द प्राप्त हुआ है। उसे व्यर्थ न गंवाओ। कुछ कर डालो।' कवि हैरान कि क्या लिखे। नारद ने यह बात सुझाई कि

धरती माती है

अब तक देवताओं को मनुष्य बनाने की प्रथा चली आई है, तुम चाहो तो इस धरती पर उत्पन्न हुए मनुष्य को देवता बना सकते हो। यही रामायण के जन्म की गाथा है। इसी महान् ग्रंथ में वाल्मीकि ने जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी प्रिय सिद्ध किया। जननी और जन्मभूमि की अनुलनीय शक्ति पर चिरंजीवी आस्था। यही रामायण काल का इतिहास है, धरती का धारावाहिक इतिहास। मनुष्य की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग और रुदन-हास्य का चित्रण। एक देश। एक संस्कृति। शत-शत, सहस्र-सहस्र विचारों का एकीकरण। समस्त चिन्तनराशि का केन्द्रीकरण। एक निष्ठा, एक लगन कि जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी प्रिय हैं जिसकी पृष्ठभूमि में मानव ने देवता का स्पर्श किया।

महाभारत में पाण्डवों के दिग्विजय की गाथा देशप्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत है। दिग्विजय के अनन्तर युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। यह यज्ञ भारतीय इतिहास की चिर-स्मरणीय घटना है। इसमें योगदान देने के लिए तथा देश की सांस्कृतिक एकता का प्रदर्शन करने के लिए समूचे देश के छोटे-छोटे राजा तथा गणतन्त्र सम्मिलित हुए। पूर्वी अफगानिस्तान से लेकर बंगाल और सुदूर दक्षिण के विख्यात और बहुमूल्य उपहार यहां आये। सभापर्व के इस प्रकरण में देश की पैदावार और कला-कौशलों का बड़ा सजीव वर्णन है। इस काल में एक छोर तक समस्त देश व्यापारिक और आर्थिक सूत्र में गुंथा हुआ था। राजसूय यज्ञ में उपहारस्वरूप कम्बोज (आधुनिक ताजिक प्रजातन्त्र) से घोड़े, ऊनी वस्त्र, सुनहले काम किये हुए समूर और चमड़े; कार्पासिक (आधुनिक काफ़िरस्तान) से सुन्दर दासियाँ; भड़ोच से गान्धार के घोड़े; सिन्ध के पार बलोचिस्तान से, जिसमें वैरामक, पारद, बंग, कितब इत्यादि जनसमूह बसते थे, बकरे, गाय, ऊट, खच्चर, फलों की शराब, शाल और नमड़े; प्राग्ज्योतिष (आधुनिक आसाम) से घोड़े; अश्मसार (संग यशब) के बने पात्र तथा हाथी दांत की मूठों की तलवारें; द्वध्य (बदरशा), एक पाद (शायद कच्छ) और जलाटाच (आधुनिक लद्दाख) से सुवर्ण और घोड़े; चीन, हूण, ओड़ (स्वात के एक प्रदेश का प्राचीन नाम), वृष्णि, हारहूर (हिरात), हैमवत (हिंदूकुश) से काली गर्दन वाले खच्चर; चीन और वाह्लीक (आधुनिक बल्ख) से ठोक नाप के खुशरंग मुलायम कपड़े, ऊनी वस्त्र, रंकु (पामीर) के बने परमीने, नमदे (कुट्टीकृत), मेमनों की खालें; सीमाप्रांत (अपरांत) से अच्छे शस्त्र; पूर्व भारत से बहुमूल्य आसन, यान, सुवर्णरत्न तथा हाथी दांत के काम वाली शय्याएं, नाराच और अर्धनाराच नाम के बाण, हाथी की झूलें; जरफशा नदी (शीतोदा) प्रदेशों से पिप्पलीक स्वर्ण; हिमालय की पूर्वी ढाल तथा बारिष (बारिसाल) के किरात देश से चमड़े, रत्न, सुवर्ण, चन्दन, अग्रह और कालीन; बंग, कलिंग, ताम्रजिप्ति तथा पुंड्र से दुकूल, कौशिक, पत्रोर्ण, और प्रावार (चादर); तथा सिंहल से मोती, समुद्र-सार, वैदूर्य, शंख और हाथी के रंगीन झूल आये।

महाभारत का कवि भीष्म पर्व के आरम्भ में भारत वन्दना के भावों से प्रेरित होकर कह उठता है—‘प्रियं भारत भारतम् ।’ ष्टराष्ट्र को सम्बोधन करके संजय कहते हैं—

धरती माती है

‘हे भारत! अब मैं भारतवर्ष की कीर्ति का बखान करूँगा। यह भारतवर्ष देवराज इन्द्र का प्यारा है। मनु वैवस्वत ने इसे अपनाया। आदिराज वैश्य पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, यथाति, अम्बरीष, मांधाता, नहुष, मुचकुन्द, औशिनर, शिवि, ऋषभ, ऐल, नृग, महात्मा कुशिक और गाधि, सोमक और दुर्दर्य दिलीप, ऐसे अनेक बलशाली क्षत्रियों ने जिस भूमि को प्यार किया है, और सब जन भी जिसको प्यार करते हैं, उस भारत का वर्णन मैं तुमसे करता हूँ।’ इस भारत वन्दना में जिन राजर्षियों के अथवा चक्रवर्तियों के नाम आये हैं, वे सभी इस देश की धरती के उपासक थे। इसी धरती पर उनके रथ के चक्के मार्ग की कठिनाइयों की ओर तनिक ध्यान न देते हुए आगे-ही-आगे बढ़ते चले गए। उन्हें धरती का आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

पौराणिक युग में देश-प्रेम की भावना से मातृभूमि को स्वर्ग के आसन पर बिठाने के बजाय स्वयं स्वर्ग को भुक्त कर देश की धरती का स्पर्श करते हुए दिखाने की चेष्टा की गई। विष्णुपुराण (२।३।२४) का रचयिता कहता है : ‘सुना है कि देवता भी यह गीत स्वर्ग में गाते हैं—धन्य हैं वे लोग जो भारत भूमि में उत्पन्न हुए हैं। वह भूमि स्वर्ग से भी विशिष्ट है। क्योंकि वहाँ स्वर्ग और मोक्ष दोनों की साधना की जा सकती है। जो देवत्व भोग सकते हैं, वे मोक्ष के लिए पुनः भारतवर्ष में जन्म लेते हैं, जहाँ के आदर्श अपवर्ग की प्राप्ति में कारणभूत हैं।’

देश के नामकरण के सम्बन्ध में डा० मोतीचन्द लिखते हैं : ‘भरत और भारत के अविच्छिन्न सम्बन्ध के मूल का पता हमें ऋग्वेदिक काल में मिलता है। ऋग्वेद के भरत आर्यों की प्राचीन शाखा थी जो सरस्वती और दृष्टद्वती नदियों के बीच में बसी हुई थी। भरतों द्वारा पूजित होने से अग्नि का एक नाम भारत पड़ा और ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी का नाम भारती पड़ा। लगता यह है कि जैसे-जैसे ‘भारत अग्नि’ और ‘भारती देवी’ देश के भागों में फैलती गई, वैसे-वैसे वे प्रदेश भारत के नाम से जाने जाने लगे और कालान्तर में सारे देश के लिए भारत नाम रुढ़ हो गया।

“ब्राह्मण युग में कुरु-पंचाल के क्षत्रियों में भरत जन का सन्निवेश हो गया, लेकिन साथ-ही-साथ, जैसा पाणिनि की अष्टाध्यायी से विदित होता है, प्राच्य भारत नाम का एक जनपद उस युग में भी प्राचीन भारत का एक अवशेष बच रहा था। ब्राह्मणयुग में भारत नाम की उत्पत्ति का आधार दौण्यन्ति भरत को माना गया है। इन्होंने अठहत्तर अश्वमेध यमुनाके तट पर और पचपन गंगा के तट पर किये। ऐतरेय ब्राह्मण [८। २३] के अनुसार इस देश के किसी राजा ने इतने यज्ञ नहीं किये। राजनीति में वह सबसे कुशल था और उसके पहलू और बाद के किसी राजा ने अपने कामों में इतना यश नहीं पाया। भरत के बढ़ते हुए प्रताप की महिमा का वर्णन शतपथ ब्राह्मण [१३। ५। ३। १३] में भी आया है। इसके अनुसार सब पृथिवी को जीत कर—विजित्य पृथिवी सर्वाम्—इन्द्र के लिए भरत ने बहुत से अश्वमेध यज्ञ किये। जान पड़ता है कि प्रतापी भरत दौण्यन्ति के अभूतपूर्व पराक्रम भार-

तीय जनता को इतने अच्छे लगे कि उसने अपने सबसे पराक्रमी राजा की यादगार बनाए रखने के लिए देश का नाम ही भारत रख दिया। जो भी हो इतना तो निश्चय है कि महा-भारत के युग में भरत राजा और देशवाची भारत का सम्बन्ध निश्चित हो चुका था।

पौराणिक युग में भारतवर्ष इस देश का सर्वप्रिय नाम था। समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण—यह इसका विस्तार था। एक अन्य स्थान पर वायुपुराण के लेखक ने जन्मभूमि की ओर संकेत करते हुए गंगा के प्रभवस्थान से लेकर कन्याकुमारी तक फैली हुई धरती की ओर उंगली घुमाकर आनन्द लिया है।

मनु और पातंजलि को मध्य देश और आर्यावर्त नाम प्रिय थे। उनके धर्मशास्त्र और महाभाष्य में इन्हीं की चर्चा सुनाई देती है। लौकिक संस्कृत और काव्य साहित्य में भी इन्हीं नामों की परम्परा मुख्य रही। गंगा यमुना की अन्तर्वेदी के लिए ही इन नामों का प्रयोग किया जाता था। अमरकोश का रचयिता हिमालय और विन्ध्याचल के बीच की धरती को पुण्यभूमि आर्यावर्त के नाम से सम्मानित करता है। निश्चय ही यह प्रदेश भारतीय संस्कृति में अग्रणी रहा होगा। इसके प्रति मनु की श्रद्धा इसी ऐतिहासिक तथ्य की प्रतीक है। गुप्त काल का इतिहास मध्यदेश का सन्देश दूर-दूर तक ले गया। डा० मोतीचन्द्र लिखते हैं : “काश्मीर राज्य के गिलगित स्थान से प्राप्त प्राचीन विनयपिटक की हस्तलिखित प्रति में सुन्दर विचार प्रकट किये गए हैं। मध्य देश का एक विद्यार्थी पढ़ने के लिए दक्षिणापथ में गया। वहाँ छुट्टी के दिन विद्यार्थियों में कौन कहाँ से आया है, इस पर चर्चा चल पड़ी। विद्यार्थी ने कहा, ‘मैं मध्य देश से आया हूँ।’ इस पर उसके साथियों ने कहा, ‘सब देश तो देखे सुने हैं, पर मध्य देश नहीं देखा। हे मानव कैसा वह मध्य देश है?’ उसने उत्तर दिया—‘हे मित्रो ! मध्यदेश सब देशों का अग्रग्राह है। वह ईख, धान, गाय भैंसों से भरा-पूरा है। वहाँ सैकड़ों भिक्षुओं के संघ घूमते रहते हैं। वहाँ दस्युजनों का पता नहीं है। वह देश आर्य-जनों तथा विद्वानों का घर है। वहाँ पुण्या मंगलकारिणी, पतित पावनी गंगा अपने दोनों ओर फूलों को सींचती हुई बहती है। वहाँ अष्टावक्र ऋषि सब ऋषियों में अग्रणी हुए हैं। वह मध्य-देश-ऐसा है जहाँ तपस्या के बल से ऋषिगण सदेह स्वर्ग प्राप्त कर लेना चाहते हैं।’

ऋग्वेदीय सिन्धु शब्द देश के नामकरण की दूसरी धारा की ओर संकेत करता है। महान् सिन्धु नद के इस पार की धरती तो भारत की सीमा के अन्तर्गत है ही। इसके उस पार का भाग (महाभारत का ‘परिसिन्धु’ प्रदेश) भी किसी समय इस देश के अन्तर्गत गिना जाता था। इस ‘परिसिन्धु’ (पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान, बदख़शान, बलख, ताजिकस्तान तथा बलोचिस्तान) का इतिहास, जैसा कि महाभारत से स्पष्ट है, भारत के इतिहास के साथ गुंथा हुआ था, और यह सम्बन्ध इसा की १० वीं सदी तक स्थिर रहा। सिन्धु से हिन्दु शब्द का रूपान्तर, जैसा कि डा० मोतीचन्द्र का कथन है, इसा पूर्व छठी सदी में ईरान के बादशाह द्वारा सूसा के एक अभिलेख में हुआ है, जिसमें यह कहा गया है कि सूसा के महल

धरती माती है

में पष्चीकारी के लिए हाथी दाँत हिन्दु देश से आया है। हिन्दुप् (सं० सिन्धु) और 'हिन्दुविआ' (सं० सिन्धुव्यः अर्थात् सिन्धु देश के रहने वाले), ये दो शब्द भी दारा के अन्य लेखों में आये हैं। पाणिनि और महाभारत से स्पष्ट है कि सिन्धु एक विशेष जनपद था जिसका विस्तार आधुनिक सिन्धु सागर दोआब में था। इस जनपद को 'सौवीर' (आधुनिक सिन्धुप्रान्त) समझना ठीक न होगा। इसी सिन्धु जनपद के रूपान्तर से विदेशों में सारे भारत का बोध होने लगा। इसी आधार पर प्राचीन यूनानियों ने इस देश का इंडोस नामकरण किया। हिन्दोस्तान और इंडिया इसी परम्परा के प्रतीक हैं।

भारत का सम्बोधन माता के रूप में पहले-पहल कब हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर सहज नहीं। डा० मोतीचन्द्र लिखते हैं: "कला में भारतवर्ष के स्त्री-रूप की कल्पना बीसवीं सदी के राष्ट्रीय अभ्युत्थान की देन है; लेकिन आज से करीब दो हजार वर्ष पहले एक विदेशी कलाकार ने भारतवर्ष की कल्पना स्त्री-रूप में कर ली थी। एशिया माइनर के लंपकस नाम के प्राचीन स्थान में एक सुन्दर चाँदी की तश्तरी प्राप्त हुई, जिसका समय ईसा की पहली अथवा दूसरी सदी है। यह तश्तरी भारतवासियों के लिए बड़े महत्व की है, क्योंकि इस पर भारतमाता का चित्र खुदा हुआ है। शिल्पी ने भारतमाता की कल्पना तत्कालीन एक संभ्रात रोमन महिला के रूप में की है, परन्तु उस स्त्री की वेश-भूषा भारतीय है। भारतमाता एक हाथी दाँत के बने आसन पर बैठी है। उसके उष्णीष से दो सींग जैसे निकले हुए हैं जिनके पोर से पता चलता है कि उनका तात्पर्य ऊँख के टुकड़ों से हो सकता है। भारतमाता का दाहिना हाथ घ्राणी है और बाएँ हाथ में धनुष है। उसके दोनों ओर कुछ पशु-पक्षी अंकित हैं जो शुद्ध भारतीय हैं। भारतीय पशु-पक्षियों का व्यापार रोम के साथ एशिया माइनर के स्थल मार्ग से होता था, और लगता है कि इसी व्यापार की ओर कलाकार का संकेत है। भारतमाता के बाईं ओर हिमालय का चकोर पक्षी है और दाहिनी ओर एक सुग्गा। आसन के दोनों ओर बड़े-बड़े कुत्ते हैं जिनकी कीर्ति यूनान तक पहुँच चुकी थी। कुत्तों की यह नस्ल रामायण [अयोध्या कांड ७०।११] के अनुसार कैकय [आधुनिक शाहपुर, झेलम] में होती थी। राजमहलों में ये कुत्ते पाले जाते थे; इनके दाढ़ बड़े होते थे और शरीर पुष्ट। बाघ की तरह इनमें बल होता था। आसन के सामने एक सिंह और तेंदुआ है। इनके रक्षक धोती, उत्तरीय और पगड़ी पहने हुए हैं।

"रोम में भारतमाता के चित्र की कल्पना का मुख्य उद्देश्य भारत के साथ रोम का व्यापारिक सम्बन्ध दिखलाना था। रोम के साथ भारतीय व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने के साथ रोम के लोगों का कौतूहल इस देश के प्रति बढ़ा होगा और उसी कौतूहल की तृप्ति के साधन स्वरूप उस देश में भारत सम्बन्धी अनेक कलात्मक चित्र बने होंगे जिनमें लंपकस की तश्तरी भी एक है। चित्र में भारतमाता की परिभाषा अर्थशास्त्र को लेकर की गई है, फिर भी वह एक सौष्ठव से पूर्ण है।"

स्वयं भारतीय कला में जन्मभूमि की कल्पना अभिव्यक्त है। इसका श्रेय गुप्तकाल

धरती माती है

को है जब गंगा के प्रति मध्यदेश की समूची जनता की आस्था पूजा और तीर्थ यात्रा की भावनाओं से ओतप्रोत हो उठी थी। धरती और नदी के स्त्री-रूप की परम्परा इससे कहीं पुरानी होगी। भेलसा के समीप उदयगिरि की गुफा में मध्यदेश का चित्रण हुआ है। दाहिनी ओर गंगा बाईं ओर यमुना। दोनों वारिधाराएँ स्त्री रूप में क्रमशः कच्छप और मकर वाहनों पर खड़ी हैं। दोनों नदियों के बीच की धरती पर छः स्त्रियाँ, देश की आनन्दी जनता के प्रतीक स्वरूप बाजे बजाकर नाच गा रही हैं। आकाश पर एक देवता, हाथ में माला लिये, धरती की पूजा में तत्पर। गंगा यमुना का संगम। चित्र आगे बढ़ता है; अपार जलराशि; बीच में दोनों हाथों में पूर्ण कुंभ लिये हुए सुन्दर पुरुष-रूप सागर मूर्ति।

धरती के गीतों में भी जन्मभूमि की कल्पना सदा से चली आई है। इनमें व्यापकता नहीं, एकनिष्ठता है; प्रखरता नहीं, कोमलता है। एक खासी लोकगीत में आसाम की खासी पहाड़ियों को सम्बोधन करते हुए खासी जनता ने देश-प्रेम का तराना छेड़ा है। पूर्वजों की अमर स्मृति ने जनता को सदैव स्फूर्ति दी है, और धरती के साथ उनका प्रेम सदैव बना रहेगा। यही आश्वासन इस गीत के एक-एक शब्द से झंकृत हो उठा है। कुर्ग के गीतों में इसे 'घरों और खेतों की धरती' के रूप में अभिनन्दित किया गया है। एक गीत में कहा गया है कि 'जैसे कावेरी की रेत बहती चली जाती है ऐसे ही देश में धन-धान्य बढ़ते रहते हैं।' नेपाल के गीतों में हिमालय का चित्र उभरता दिखाई देता है—

हिमालै चूली के एती राप्रो

सरप को काँचुली !

—'हिमालय की चोटी कितनी सुन्दर है

सर्प की कँचुली (के समान).....'

सुन जस्तो नेपाल के राप्रो देख छ

स्वर्ग छ संसार माँ !

—'स्वर्ग जैसा नेपाल कितना सुन्दर दीखता है

यह संसार में स्वर्ग है ।'

तीनै र सहर नेपालै ज्यान मां

सुन को मरुल

—'तीन ही शहर हैं प्रिय नेपाल में

स्वर्ण के चूल्हे (हैं वहाँ घर-घर) ।'

तिरहुत की रूपरेखा भी देख लीजिए—

कोवटो धोती, पटुआ साग

तिरहुत गीत बड़े अनुराग

भाव भरल तन तरुणी रूप

एतवै तिरहुत हाइछ अनूप

धरती गाती है

—‘कोकटी धोती, पटुआ साग, अनुराग के गीत, रूपवती तरुणी का भाव-भरा सौंदर्य—इन्हीं के कारण तिरहुत अनूप है।’

गढ़वाली गीतों में मलेथ ग्राम का गीत जन्मभूमि का सीमित चित्र है। परन्तु ग्राम की पृष्ठभूमि में समूचे देश की संस्कृति नज़र आती है—

कैसी च भण्डारी तेरा मलेथ ?

देखी भाली ऐन सैवो मेरा मलेथ

ढलकदी गूल मेरा मलेथ

गाऊँ मूड़को घर मेरा मलेथ

पालंगा की बाड़ी मेरा मलेथ

लासणा की क्यारी मेरा मलेथ

गाइयों की गोठचार मेरा मलेथ

भैसी को खुरीक मेरा मलेथ

बाँदू का लड़क मेरा मलेथ

बैखू का ढसक मेरा मलेथ।

—‘कैसा है, ओ भंडारी, तेरा मलेथ ?

देखने में भला लगता है, साहबो, मेरा मलेथ

ढलकती जल धारा है—मेरा मलेथ

ग्राम की निचान में मेरा घर—मेरा मलेथ

पालक की बाड़ी—मेरा मलेथ

लहसुन की क्यारी—मेरा मलेथ

गडायों की गोठ—मेरा मलेथ

भैसों की भीड़—मेरा मलेथ

युवतियों का झुँड—मेरा मलेथ

जवानों का धक्कमधक्का—मेरा मलेथ।’

जब व्रज भूमि की युवति गा उठती है तो इस जनपद के चित्र का चिरन्तन आँर चिर-नूतन रंग हमारा ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहते—

बिरज मण्डल देस दिखा दे रसिया

तेरी रे बिरज में कान्हां गऊ रे बहुत हैं

पी पी दूध भई पठिया। बिरज....

तेरी रे बिरज में कान्हां मोर बहुत हैं

कोहकत मार फटै छतिया।

बिरज मण्डल देस दिखा दे रसिया

पंजाबी गीतों में भी जन्मभूमि की प्रशंसा के स्वर ऊँचे उठ-उठ जाते हैं। जालन्धर की ओर का एक किसान युवक ग्राम की एक युवती से कहता है—

छद्म के देस दोआबा
अम्बियाँ नूँ तरसैंगी

—‘देश दोआबे को छोड़ कर

तुम आमों के लिए तरसती रह जाओगी।’

दोआबे के आम विख्यात हैं। आम की युवती कदाचित् कहीं दूसरे जनपद के लिए प्रस्थान कर रही है। युवक उसे ठीक समय पर चेतावनी देता है। उधर लायलपुर के जंगली गीतों में अभी तक मरुस्थल की प्रशंसा के अवशेष मिलते हैं—

मैं जो तै नूँ वे आखिया
थल विच्छ बंगला पवा भला
निक्कियां निक्कियां बारियां
ते लगा पुरे दी वा भला ।
मैं जो तै नूँ वे आखिया
थल विच्छ खुआ खटा भला
डाचियां पाणी पी गइयां
तेतोड़े करदे दुवा भला ।
मैं जो तै नूँ वे आखिया
थल विच्छ भुगाड़ा पवा भला
बहूँ ते बहूँ मोकली
दो बन्दयां दी थां भला ।

—‘मैंने तुम्हें कहा था न

मरुस्थल में बंगला उसारो भला

छोटी-छोटी खिबकियाँ हों

पुरवाई अच्छी लगेगी भला ।

मैंने तुम्हें कहा था न

मरुस्थल में कूआं खुदवाओ भला ।

ऊँटनियाँ पानी पी गईं

और ऊँटों के बच्चे बुआ दे रहे हैं भला ।

मैंने तुम्हें कहा था न

मरुस्थल में झोपड़ा उसारो

खूब खुली होकर बैठूँगी

दो बन्दों के लिए ही स्थान हो भला ।’

पोठोहार (ज़िला रावलपिण्डी) के एक ‘माहिया गीत में जन्मभूमि में कारमीर का रूप और रस चखने की चेष्टा की गई है—

धरती माती है

केही तुण तुण लाई होई ए
ढकी उत्ते वसदे ओ
कश्मीर बणाई होइ ए ।

—'कैसे स्वर बजा रहे हों

पहाड़ी पर बसते हों

काश्मीर ही तो बना रखा है इसे ।'

राजस्थानी लोकगीत में जन्मभूमि का चित्र अन्य गीतों की अपेक्षा सबसे अधिक सजीव और अर्थपूर्ण प्रतीत होता है—

वालो लागै छै म्हारो देसड़ो ए लो
कम कर जावूँ परदेस वाला जो
ऊँचा ऊँचा राणो जी राणो जी रा गोवड़ा ए लो
नीचे म्हारे पीछोले री पाल वाला जो
बादल छाया देस में, हे लांय
नदियां नीर हिलोहिल रे
बादल चमकै बीजली
चमक चमक झड़ लाय ।
सरोवर पाणीड़े ने मैं गई ए लो
भीजै म्हारी सालूड़े री कोर वाला जो
वाला लागै छै म्हारो देसड़ो ए लो
कम कर जावूँ परदेस वाला जो ।

—'मुझे मेरा देश प्रिय लगता है ए लो

हे प्रिय, परदेस कैसे जाऊँ ?

ऊँचे-ऊँचे राजा जी के गवाक्ष हैं ए लो

हे प्रिय, नीचे मेरे पीछोला तालाब का किनारा

देश में बादल छा गए

नदियों में जल हिलोरें ले रहा है

बादल में बिजली चमकती है

चमक-चमक कर झड़ी लगा देती है

मैं सरोवर पर पानी लेने गई ए लो

हे प्रिय, मेरे सालू की कोर भीग रही है

मुझे मेरा देश प्रिय लगता है ए लो

हे प्रिय, परदेस कैसे जाऊँ ?'

यह गीत उदयपुर का है । 'रानाजी के गवाक्ष' और 'पीछोला का किनारा' ; इनसे

गीत की पृष्ठभूमि में एकनिष्ठता आ जाती है। परन्तु राजस्थान के अन्य जनपदों में तीसरे और चौथे चरणों को कभी-कभी बदल भी देते हैं—

ऊँचा ऊँचा मारू जी रा गोखड़ा ए लो
नीचे म्हाारे सरवरिए री पाल वाला जो

इस प्रकार यह गीत एकांगी न होकर समूचे राजस्थान का प्रतीक बन जाता है। मरुभूमि की स्त्री को भावनाएं भी इन्हीं स्वरों में समा जाती हैं, जो दुर्भिक्ष के दिनों में भी अपनी जन्मभूमि को नहीं छोड़ना चाहती। दुर्भिक्ष तो सदा नहीं रहता। कभी तो देश में बाढ़ल भी छू सकते हैं। सरोवर में जल सूखने न पावे, यही यथेष्ट है।

धरती के गीत जन्मभूमि की कल्पना को कभी लोप नहीं करते। भले ही यहाँ भारतमाता का दो हजार वर्ष पुराना चित्र दिखाई न दे जो एशिया माइनर के समीप लंपकस नामक स्थान से मिली हुई सुन्दर चाँदी की तश्तरी पर खुदा हुआ है। भले ही यहाँ गंगा यमुना की धरती का वह चित्र जो भेलसा के समीप उदयगिरि की गुफा में गुप्तकालीन कला का एक सुन्दर उदाहरण है न दीखे। किन्तु 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की परम्परा धरती के गीतों की प्राणशक्ति है। जन्मभूमि का एक-एक कण प्रिय है। एक-एक कण का एक-एक गान। जन्मभूमि की बहुत युगों की चर्चा से मूल-भावना घिस-घिस कर नष्ट तो नहीं हुई। एक ही आकाश एक ही धरती। अनेक मानव। परन्तु अनेकता में भी एकता की कमी नहीं। जन्मभूमि की कल्पना में कुछ भी भिन्न नहीं रह जाता। जन्मभूमि प्रीति और चिन्तन चाहती है। इससे धरती प्राणवान् हो उठती है। जन्मभूमि का पूर्णरूप देखने के लिए समस्त मानव शक्तियों का विकास चाहिए। छोड़ो यह आधा-आधी। मिथ्या हैं सब बँटवारे। जन्मभूमि तो अखंड है। यही धरती का तकाजा है। विरोध नहीं चाहिए। सहयोग अच्छा है। यही धरती का दावा है। गिनती में जन्मभूमि का परिमाण नहीं, पूर्णता में ही उसका परिमाण है। धन-मुक्त जन्मभूमि ही सब को प्रिय लगती है, क्योंकि उसी रूपमें वह मानवता की महिमा वृद्धि कर सकती है। यही तो धरती का गान है जिसे वह आज भी गाती है।



दीया जले सारी रात

यों वियोग के गीत मैंने अक्सर सुने थे। पंजाबी में ही नहीं, हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं में भी। बहुतों को मैंने बेहद पसन्द किया था। फिर मेरा विवाह हो गया, और वह भी एक तरकीब से, तो न जाने क्यों मेरी रुचि बदल गई। वियोग के गीत मुझे बहुत ज्यादा पसन्द न आते थे। उनका पहला आकर्षण कहीं खोया गया हो जैसे।

हाँ, वह तरकीब भी बतादूँ जिससे मेरा विवाह हो गया। जगह-जगह की यात्रा के बाद दो-अधार्द्ध साल घर से बाहर खानाबदोशी का-सा जीवन गुज़ार कर—मैं घर पहुँचा था। मैं तो इसे यात्रा ही समझता था, यह दूसरी बात थी कि पिताजी इसे निरी आचारागर्दी कह रहे थे। विवाह का प्रस्ताव इसलिए उठा कि मैं घर से बांध जाऊँ, खानाबदोशी से मुँह मोड़ लूँ, दिल की तनावें बड़े प्रेम से अपने गाँव के साथ बांध लूँ। पिताजी की इस छिपी भावना को मैंने शुरू ही में भांप लिया था। मैंने विवाह के लिए हाँ कर दी तो घर भर में खुशी की जहर दौड़ गई। यह मैं जानता था कि विवाह के बाद मेरी ज़िम्मेदारी बढ़ जायगी। मुहब्बत कहती थी, अभी ज़िम्मेदारी की बात न छेड़ो। आर्थिक प्रश्न से जैसे मुहब्बत को कोई सम्बन्ध ही न हो। लम्बी यात्रा में मैं किसी साथी की ज़रूरत महसूस किया करता था। मुहब्बत की भावना ने मुझे जूआ खेलने पर उतारू कर दिया। जिस लड़की से मेरा विवाह होना पका हुआ, उसे मेरी माँ देख आई थी। मैं जान लेना चाहता था उस लड़की के दिल का हाल। जब वह मुस्कराती है उसकी आँखों में कौनसी किरण

दौड़ जाती है, यह भी मैं जान लेना चाहता था। उसे किस तरह के स्वप्न आया करते हैं, यह प्रश्न बार-बार उठा, पर दिल की गहराइयों ही में बन्द रहा। माँ से तो ये सब बातें पूछी न जा सकती थीं। और यह भी तो मालूम न था कि माँ इन प्रश्नों के उत्तर दे भी सकती है या नहीं।

एक आशंका एक दिन बादल की तरह उठी और धीरे-धीरे दिल के कोनों तक फैल गई। क्या वह अज्ञात लड़की यहाँ आते ही मुझ पर ऐसा जादू डाल लेगी कि मैं बाहर न जा सकूँगा, खानाबदोशी से मुँह मोड़ लूँगा? पीछे हटना भी तो सम्भव न था। आखिर मैंने यह सोचकर कुछ तपस्वी पार्ई कि शायद वह तितली की तरह पंख फैलाकर मेरे साथ-साथ उड़ा करेगी, मेरे साथ वह भी खानाबदोशी स्वीकार कर लेगी।

हाँ, तो वियोग के गीत की बात तो मैं भूल रहा हूँ। विवाह के बाद एक दिन मैंने ससुराल में मनचली युवतियों को एक गीत गाते सुना। गीत बहुत करुण था, और श्रुति-मधुर भी। माटी के टिमटिमाने दीये के साथ-साथ जैसे स्वयं वियोग टिमटिमा रहा था। टेक पर गंठुँचते हो कन्याएं अजब जोरदार ढंग से आवाज़ मिलाकर गाती थीं—

दीवा बले सारी रात, मेरया जाल्मा
दीवा बले सारी रात
बत्तियां बटा रखदी, मेरया जाल्मा
दीवा बले सारी रात।
आवेंगा तां पुच्छ लवांगी, मेरया जाल्मा
कित्थे गुजारी सारी रात।
बत्तियां बटा रखदी, मेरया जाल्मा
दीवा बले सारी रात।
आवेंगा तां बुझ लवांगी, मेरया जाल्मा
कित्थे गुजारी सारी रात।
दीवा बले सारी रात, मेरया जाल्मा
दीवा बले सारी रात।

—'दीया रात भर जलता है, ओ मेरे ज़ालिम
दीया रात भर जलता है
बत्तियां तैयार करा रखती हूँ, ओ मेरे ज़ालिम
दीया सारी रात जलता है।
तू आयगा तो मैं पूछ लूँगी, ओ मेरे ज़ालिम
कहाँ बिताई सारी रात।
बत्तियां तैयार करा रखती हूँ, ओ मेरे ज़ालिम
दीया सारी रात जलता है।

घरती गाती है

तू आथगा तो मैं समझ जाऊंगी, ओ मेरे ज़ालिम

कहाँ बिताई सारी रात ।

दीया रात भर जलता है, ओ मेरे ज़ालिम

दीया रात भर जलता रहता है ।'

दूर से जब मैंने यह गीत सुना, तो सोचा उधर ध्यान न दूँ। पर मैं रह न सका। मुझ समीप आते देखकर कन्याओं ने गीत बन्द कर दिया। उनमें मेरी नव-विवाहिता पत्नी भी थी। गीत बन्द करने की सलाह राणो ने दी थी, यह मालूम होते देर न लगी। सभी सहेलियाँ आपस में उलझने लगीं।

प्रसिन्नी ने कहा : “क्यों री राणो अब गाती क्यों नहीं री ? क्या तुम चाहती हो कि जीजाजी तेरी मिन्नतें करें ?”

पास से सुशीला बोल उठी : “हां, हाँ, तुम क्या समझती हो, प्रसिन्नी ? हमारे गीत क्या मुफ्त में आते हैं ?”

मेरा जी चाहता था गीत आरम्भ हो। सोचता था, दूर से ही क्यों न सुनता रहा। अब मिननत न करता, प्रशंसा के दो शब्द कह देता, तो भी शायद लड़कियाँ अपना गीत ख़ुश दर्वा। पर मैं इतनी हिम्मत भी तो न कर सका।

जल्द गीत-महफिल बरखास्त होगई। काली-काली आँखें मुझीं और देखते-ही-देखते ओझल हो गईं। अब न राणो थी, न प्रसिन्नी, जिनकी आँखों में उनके दिल देखे जा सकते थे। प्रसिन्नी से भी अधिक राणो ही प्रिय थी। इसलिए नहीं कि वह गीत गाने में कोयल थी, इससे भी अधिक इसलिए कि वह भोली थी और आँख में दिल रखकर मुस्क-राना जानती थी।

यह गीत मैंने पहले भी सुना था, पर कभी मुझ पर इतना असर नहीं हुआ था। एक बार मैंने इसका अंग्रेजी में अनुवाद करने का यत्न भी किया था। अब मालूम हुआ कि उस समय मुझ पर इसकी आत्मा न खुल पाई थी। गीत क्या अनुवाद की वस्तु हो सकती है ? और फिर विरहिन के दीये वाला यह गीत !

राणो ने इसे किसी अछूती लय में गाया हो, यह बात नहीं। उससे कहीं अच्छा तो मैं स्वयं गा लेता हूँ, और अक्सर गाया करता हूँ। फिर भी न जाने उस रोज़ राणो और उसकी सखियों को ज़बानी यह गीत सुनकर मुझ पर इसका इतना असर क्यों हुआ ?

ससुराल से वापिस घर आकर जैसे मैं और सब गीत भूल गया। मेरी पसन्द का एक ही विषय था और वह था विरहिन का दीया और उसका गीत। वियोग का यह गीत मेरे सारे जीवन पर छा जाने के लिए तैयार दीखता था।

अपनी पत्नी को यह गीत सुनाने के लिए मैं बहुत कहता। वह शरमा जाती। उसकी आँखें ऊपर न उठतीं। न हाँ, न नहीं। कुछ पता न चलता था कि वह किस शर्त पर यह गीत सुनाने के लिए तैयार हो सकेगी। मुझे हल्का सा गुस्सा भी आ जाता। बंगाल, गुज-

रात और महाराष्ट्र में मैं एकदम अपरिचित लोगों से गीत सुन आया था। और यहाँ मैं अपने घर से गीत सुनने में असफल हो रहा था।

फिर एक दिन मुझे वह गीत पास आता दिखाई दिया। ऐसे अवसर पर मेरी आँखें ललचा जाती हैं। चाहता हूँ अपना दिल छाती से निकाल कर आँखों में रख लूँ। “अब छोड़ो भी यह लाज” मैंने उसे अपनी ओर खींचते हुए कहा।

वह झिझक कर बोली : “मैं तो खुद चाहती हूँ कि लाजाऊँ नहीं।”

मैं समझ गया कि अब सफलता दूर नहीं। बोला, “तो फिर मिल जाय सुनने को वही विरहिन के दीये वाला गीत।” पर वह कोई दूसरा ही गीत सुनाने के लिए तैयार हुई थी। था वह भी विरहिन का गीत। मैंने कहा—“अच्छा सुनाओ वही गीत।”

गीत शुरू करते-करते वह शरमा चली थी। काफ़ी गहरा गीत था। पाँच दरियाओं के देश की किसी हीर या सोहणी का करुण गीत था—

औह गये सज्जन औह गये
लंघ गये दरिया
असौं रज्ज गल्लां न कीतियाँ
साडे मनो न लत्थड़ा चा !

—‘वह गया प्रीतम, वह गया

वह दरिया के उस पार चला गया

न हमने जी भर कर बातें कीं

न हमारे मन का चाव पूरा हुआ।’

यह स्त्री का गीत था और स्त्री ही ऐसा असर पैदा कर सकती थी। यह वह भी जानती थी कि मैं विरहिन के दीये वाला गीत न छोड़ूँगा, न इसकी जगह कोई दूसरा गीत ले सकेगा।

फिर कई-कई दिन तक मैंने गीतों की बात छेड़नी ही बन्द कर दी। अपने गाँव से लाहौर आकर भी मैंने यही तरीका जारी रखा। आशा कहती थी, कभी न कभी मेरी पत्नी जरूर विरहिन के दीये वाला गीत गा उड़ेगी, पर प्रतीक्षा को यों ही थक जाना पड़ा।

फिर लाहौर से वापिस गाँव में आकर भी मुझे वह गीत सुनने को न मिला। अब मुझे शीघ्र ही बाहर यात्रा पर जाना था। पिताजी ने लाहौर रहने की मंजूरी भी बड़ी सुरिकल से दी थी। मैंने किसी दिन चोरी से लम्बी यात्रा पर भाग जाने की ठान ली थी। पिताजी ने सोचा था कि लाहौर में कुछ मास पत्नी सहित रह कर और गरीबी के कड़े दिन काट कर अब मैं घर पर आराम से रहने का निश्चय कर लूँगा, और फिर धीरे-धीरे वे मुझे अपने साथ नहर पर ठेकेदारी का काम सुपुर्द कर देंगे। उन्हें शायद मालूम न था कि लाहौर में इन चन्द महीनों में पेश आने वाली कठिनाईयोंको मैंने खुशी-खुशी झेल लिया था। इससे कहीं अधिक कठिन दिन तो मैं अपनी पहली यात्राओं में देख चुका था। गरमी की

धरती गान्ती है

छुट्टियों में एक बार कालेज से वापिस आकर जब मैंने काश्मीर जाने की ठानी थी और पिताजी से इजाजत नहीं मिली थी, तब मैं चोरी ही काश्मीर के लिए चला पड़ा था। उन दिनों बेटिकट सफर करने का हौसला भी कितना बलवान था। और फिर तीन मास जो काश्मीर में सैर की थी, उधर के गीत सुनने के लिए जो फकीरी धारण की थी, वह लाहौर के इस ताजे गरीबी के जीवन से कहीं अधिक सख्त थी।

पहली यात्रा में मैं अकेला ही था। जैसा जीवन स्वयं चुना था, उसमें पेश आनेवाले सुख-दुःख को अपनी चीज़ समझ कर मस्त रहता था। पर अब मेरा विवाह हो चुका था। यदि मैं चाहता भी कि अपनी पत्नी को यात्रा पर साथ ले जाऊँ, तो पिताजी कभी आज्ञा न देते, और यदि एकदम क्रुद्ध होकर कह भी देते कि जा करले अपनी मनमानी, तो भी शायद मैं पत्नी को बाहर ले जाने के लिए तैयार न होता। नवविवाहिता संगिनि से बिछड़ना मेरे लिए एक कड़ा प्रश्न था, पर पैर का चक्कर जोर मार रहा था।

“तुम्हारे बेटे के पैर में ‘चक्कर’ है। वह कहीं एक जगह टिक कर न बैठ सकेगा। पैर का चक्कर बहुत जबरदस्त होता है और जिसके पैर में कुदरत ने चक्कर डाल दिया हो उसे बस बिन-पैख का पँछी समझो। वह उड़ता है और दूर-दूर की हवा खाता है।” इन शब्दों के साथ एक ज्योतिषी ने मेरी माँ को चिन्ता में डाल दिया था। यद्यपि वह ज्योतिषी यह भविष्यवाणी न कर सका था कि मुझे लोकगीतों के लिए पंछी बनना पड़ेगा, तो भी माँ मन-ही-मन में उस ज्योतिषी की जादू-बयानी का सिक्का मान रही थी।

सोचा था, अबकी यात्रा में कोई ऐसी तरीक़ीब अवश्य निकाल लूँगा, जिससे मैं सदा पत्नी-सहित यात्रा करने का उपाय कर सकूँ। विवाह ने मेरा दृष्टिकोण बदल दिया का। ‘पैसा चाहिए पैसा’—यह आवाज़ थी जो मेरे हृदय पर अपना प्रभाव डालती रहती। बेटिकट सफर की बात कभी की खतम हो गई थी। अब तो अपने पैरों पर खड़ा होने का सवाल था। नौकरी न करने की मैंने कसम खा रखी थी। फिर पैसा कहाँ से आये ? पत्रों में लोक-गीतों पर कुछ लिख कर अधिक पैसा पैदा करना कठिन है, यह मैं जानता था। और अब तक मुझे कभी यह बात भी तो न सूझी थी कि मैं ये गीत क्यों संग्रह कर रहा हूँ। बचपन ही में यह शौक लग गया था। हाईस्कूल में यह दुबने की बजाय बढ़ता ही गया। कालेज का जीवन भी इसे मार न सका। और ज्यों ही मैंने देखा कि कालेज का वायु-मण्डल मेरे स्वभाव के विरुद्ध है, मैं भाग निकला और लगा घूमने और गीत संग्रह करने। अब जब गीतों पर लिखने का विचार हृदय की धरती में नित हरा होने लगा तो जैसे गीतों के सम्बन्ध में मेरा शौक और भी बलवान हो गया। लेखों से अधिक पैसा न आये तो न सही, जितना आयगा उसीसे गुजारा करेंगे। देश के पत्रों में लिखना चाहिए और विदेश के पत्रों में भी। यह फैसला धीरे-धीरे जड़ पकड़ता गया।

एक बात और भी तो थी। कुछ मास अपनी पत्नी के साथ गुज़ार कर मैंने अभी वह बात पैदा न की थी कि वह लम्बी यात्रा पर मेरी फ़कीरी में शामिल हो सकती। वियोग

का आने वाला जमाना मुझे साफ दिखाई दे रहा था। चोरी से एक दिन निकल भागने की बात मैंने डर के मारे नहीं बताई थी। इन दिनों खास कर विरहिन के दीये वाला गीत सुनने के लिए मैं तरस रहा था।

जिस दिन प्रभात से दो-तीन घंटे पहले ही जाने की ठान रखी थी, उससे पहली रात चौबारे में बैठकर मेरी सरल-हृदय पत्नी ने एक दूसरा ही गीत सुना दिया। यह गीत पंजाब की किसी स्त्री ने रण-भूमि में जाने वाले पति को सम्बोधन करके गाया था।

जे उठ चल्लियों चाकरी,
नीले घोड़े वालिया !
सानूँ बोजे पा ।
जित्थे ते आवे रातड़ी
नीले घोड़े वालिया!
कडढ कलेजड़े ला ।

—‘यदि तुम जंगी नौकरी पर चल पड़े हो,

ओ नीले घोड़े वाले !

मुझे अपनी जेब में डाल लो

जहाँ कहीं रात पड़ जाया करे

निकाल कर हृदय से लगा लिया करना।’

न मैं कहीं खुद पर चला था, न मेरे नीचे नीला घोड़ा ही था। मुझे न जाने क्यों यह महसूस हुआ कि यह गीत मेरे लिए ही बना था। पर दिल तो जलचा रहा था विरहिन के दीये वाला गीत सुनने को।

ढलहौजी के पहाड़ी गाँव मुझे बहुत पसन्द आये। माँ के मुख पर जो रौनक और जो वास्तव्य की विरवासमय रंगत होती है, वह पहाड़ के एक-एक झोंपड़े में देखने को मिली। पहाड़ी आबादी मैदानी प्रदेशों से कितनी भिन्न थी। चम्या के गद्दी चरवाहे जो तराने छेड़ते थे वे केवल पहाड़ों और उपत्यकाओं में ही गूँज कर रह जाते हों, यह बात न थी। उनके गीत खेतों की तरह सादा और घर की रोटी की तरह अच्छे थे। और गद्दियों के स्वदेश प्रेम का तो मैं मूढ कायल हो गया। ‘भगवान् मुझे अगले जन्म में भेड़ बकरी भी बनाए तो मुझे चम्बा में धौली धार के समीप ही जन्म दे तो उत्तम हो’—एक गद्दी ने कोई पुराना गीत खरम करते हुए बता दिया था। धर्मशाला और पालमपुर की सैर भी काफी मनोहर रही। फिर मण्डी होता हुआ कुल्लू पहुँचा तो मैंने देखा कि मेरी लेखनी जोर-जोर से चल रही है। क्रोटोग्राफ़ी का शौक अजग उभर रहा था। कुल्लू से पैदल शिमला पहुँचा। और फिर शान्तिनिकेतन होता हुआ सीधा आसाम पहुँच गया।

आसाम में मेरा ध्यान खींचने के लिए बहुत सामान थे। पर था तो मैं एक बियोगी ही। गीत लिखते-लिखते कभी घर का झगल आजाता तो दिल पीछे हटता नज़र आता।

धरती माती है

पिताजी का पत्र अलग आता। पत्नी का पत्र अलग आता। शुरू-शुरू में पत्रों की बातें अधिक उदास करने वाली न थीं। फिर इनका करुण प्रभाव सहारना बहुत कठिन हो गया। और मैंने उत्तर देना छोड़ दिया।

मेरी डाक पहले गोहाटी में सदानन्द की मार्फत आती थी। फिर जहाँ मैं होता वहाँ लौटाई जाकर मुझ तक पहुँचती। मैंने गोहाटी में सदानन्द से कहला दिया था कि वह मेरी डाक पूरे एक मास तक अपने पास रखकर मेरे पास भेजा करे। पिताजी ने मुझे पत्र लिखना छोड़ दिया। पत्नी बराबर लिखती रही। और मैं तीन-तीन चार-चार पत्रों का उत्तर एक ही बार देता।

फिर मैंने देखा कि वह पत्रों में मुझे गीत भेजने लगी है। मैंने सोचा, यह अच्छी बात हुई, अब विरहिन के दीये वाला गीत वह अपनी लेखनी से एक दिन अवश्य लिख भेजेगी। पर दूसरे गीत पहुँचते रहे, वह न पहुँचा।

आखिर बड़ी लम्बी प्रतीक्षा के बाद एक दिन वह गीत भी आ ही पहुँचा। पहले पत्र अलग होता था और गीत अलग। इस बार केवल गीत था, पत्र बिलकुल था ही नहीं।

अगली सुबह ही मैं गोहाटी के लिए चल पड़ा। सदानन्द को मैंने 'दीया जले सारी रात' की कहानी सुनाई। वह शायद इसे समझ ही न सका, यों ही हँस दिया। उसे हँसते देखकर मुझे भी हँस देना पड़ा।

पूरे डेढ़ वर्ष बाद मैं घर लौटा। मुझे आशा थी कि अब मेरी पत्नी जरूर मुझे वह गीत सुना देगी। पर वह राज़ी नहीं हुई। बात उसकी ठीक थी—“पूरे डेढ़ वर्ष विरहिन का दीया जलाकर तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही हूँ। अब मैं विरहिन नहीं। विरहिन का गीत कैसे गाऊँ ?”

पिछले सप्ताह में एक मित्र के साथ सैर करने निकला, तो मुझे अपने जीवन की यह कहानी याद आ गई। ‘दीया जले सारी रात’ ये शब्द मेरे हृदय पर छा गए। ज़ालिम प्रीतम, तुम आते ही नहीं। रात भर मेरा दीया जलता रहता है। न जाने कितनी बत्तियाँ जल जाती हैं। तुम आते ही नहीं। तुम आते ही नहीं, ज़ालिम प्रीतम..... मेरे मित्र को यह गीत बहुत पसन्द आया। उसने इस गीत पर कुछ लिखने की इच्छा प्रकट की। मैंने कहा—माटी के दीये को तुच्छ न समझना।

मुझे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता याद आ गई—‘अस्त होते सूर्य ने कहा—क्या कोई है जो मेरे पश्चात् मेरा कार्य कर सके ? माटी का दीया सिर उठाकर बोला—यत्न करूँगा।’

मैंने जोर देकर कहा—“और इससे क्या फ़र्क पड़ जायगा। तुम भी लिखो, मैं भी लिखूँगा।”

“तुम लिखोगे तो मैं अपनी अधूरी कविता तुम्हारे सामने ही फाड़ डालूँगा।”

“मैं लिखूँ भी तो तुम्हारी कविता को कोई चोट न पहुँचेगी। डलटा मुकाबले में आकर तुम्हारी रचना चमक उठेगी।”

“नहीं भाई, नहीं, मैं यों नहीं मानने का।”

उसे खुश करने के लिए मैंने कह दिया—“अच्छा, मैं नहीं लिखूँगा।”

खुश होकर वह इस गीत पर पूरे आध घण्टे तक लेक्चर देता रहा—ठीक उसी तरह, जिस तरह कालेज में कोई प्रोफेसर कविता पढ़ाता है, ‘यह उस स्त्री का गीत है जिसके जीवन की एक-एक घड़ी हन्तजार की घड़ी है...’ मैं सोच रहा था, क्या कोई गीत लेक्चर का मोहताज हो सकता है।

पर और तो और, मेरे मित्र की कविता का अब क्या बनेगा ? मैंने तो अपना दीया जला ही दिया। अच्छा हो, यदि मित्र का दीया भी जले। मैं डरता जरूर हूँ। कहीं मुझे अपने वचन से फिरा देखकर वह कल को यह न कह बैठे—लो भाई मेरी कविता, इसे तुम अपने हाथों से फाड़ डालो।

आसाम-यात्रा के बाद भी मैं वही पुराना यात्री हूँ। पैर नहीं तो न सही, दिल तो है। और पैर में चक्कर का जोर भी है। अब मेरी पत्नी मेरे साथ रहती है। यात्रा ही में हमें एक तीसरा साथी भी मिल गया है। वह है कविता—हमारी पुत्री।

विरहिन के दीये वाले गीत से कहीं अधिक सुन्दर गीत मैंने सुने हैं, तो भी मन है कि उस माटी के दीये की ओर दौड़ता है। न मैं वियोगी हूँ, न मेरी पत्नी ही वियोगिन है। फिर भी हम दोनों न जाने क्यों इस गीत को गाने लगते हैं।

बहुत दिनों से सदानन्द नहीं मिला। बहुत खोज की है। वह मिल जाय, तो उसे यह गीत गाकर सुनायं। तब मैं उससे पूछूँ कि आसाम में वह इस गीत से सम्बन्धित मेरी कहानी सुनकर यों ही मूर्ख की भांति क्यों हंस दिया था।



ईरावती

: १ :

आकाश पर शाम की लाली और धरती पर खामोश ईरावती । यह नज़ारा मुझे मगन रखता है । चित लेटी हुई रेत पर मैं भी लेट जाता हूँ । सौ नज़ारों का है एक नज़ारा, ईरावती का किनारा ।

सदियों से वह इसी तरह बह रही है । वह इस देश की माँ है । लोगों के कहकहों की अमानतदार है । उनका इतिहास भी उसे याद होगा । याद नहीं आ रहा कहां पड़ा था कि आनन्द और चिन्ता के भाव हममें साथ-साथ रहते हैं । कोई उन्हें अलग-अलग नहीं कर सकता । कब और कैसे वे एक-दूसरे की जगह ले लेते हैं, कुछ पता नहीं चलता । इन लोगों ने इन भावों को अलग-अलग करना सीख लिया है । जिधर देखो, हंसते हुए मुखड़े । लोग तो मैंने बहुत देखे हैं, घाट-घाट का पानी पिया है । इतने खुश लोग पहले देखे भी हों, तो याद नहीं आ रहे । इतनी भी क्या खुशी है ?

पाल की तरह बाजू फैला कर मैं नाचने लगता हूँ । फिर रेत पर खुद ही गिर पड़ता हूँ । सदियों से रेत यहाँ मौजूद है । सदियों से ईरावती आदमी को शान्ति देती आई है । यह वातावरण मुझे पसन्द है । जीवन होना चाहिए नदी की तरह, खुली और आज़ाद ईरावती की तरह ।

अच्छा होता कि रंगून से मांडले तक ईरावती के पानियों पर सफ़र किया जाता । इसमें पूरे सात दिन लग जाते हैं । पर मैं रेलगाड़ी पर यहाँ पहुँचा । ईरावती मैंने पहली बार यहीं देखी ।

काका कालेलकर के शब्द मेरे मन में गूँज उठते हैं—“ईरावती कहें या ऐरावती ? मेरी समझ में, इस नदी का नाम हरा नाम की घाट पर से ऐरावती पड़ गया है । इसके किनारे की पुष्टिकारक घास चरने वाले मस्त हाथी को ही ऐरावत कहते होंगे । या फिर इन्द्र के ऐरावत की तरह बड़े डील-डौल वाली और मत्त गजेन्द्र गति से चलने वाली इस नदी को देखकर किसी बौद्ध भिक्षु को सूझा होगा कि बस इस नदी को हम ऐरावती

कहेंगे.....ईरावती कहीं हिन्दुस्तान में होती, तो संस्कृत-कवियों ने इसके वर्णन में ईरावती जितना लम्बा-चौड़ा काव्य-प्रवाह बहा दिया होता....।”

सारी नदियाँ पहाड़ों से निकलती हैं और उपत्यकाओं तथा मैदानों को पार करती हुई सागर की तरफ भागी चली आती हैं। ईरावती भी दूर पहाड़ों से आती है।

“ईरावती का निकास यहां से कितनी दूर है ?”

“सात सौ मील।”

“तो फिर यह तेरह सौ मील लम्बी नदी है ?”

“जी हां।”

पहले-पहल जब ईरावती पहाड़ों की गोद से निकल पड़ी थी, तब वह क्या जानती थी कि आगे चलकर ‘माइका’ और ‘मालिका’ उसे अपना पानी देकर दूर-दराज सफर पर धकेल देंगी—तेरह सौ मील दूर ! शुरू में कोई नदी यह जानने की परवाह नहीं करती कि उसे कितनी दूर जाना है। वह बहने लगती है। यही उसका जीवन है।

दूर से किसी के गीत की आवाज़ मुझ तक पहुंचती है, जैसे ईरावती कह रही हो—ये गीत और कहां मिलेंगे ? सच कहती है। अभी क्या जल्दी है ? मैं फिर बैठ जाता हूँ।

खुदा हाफ़िज़, ईरावती कल फिर सही।

मैं ईरावती से इतना प्रभावित होता हूँ। पर क्या खुद भी ईरावती को प्रभावित कर सका हूँ ? पैर जल्दी से नहीं उठते। जाना तो होगा। ठिकाने पर मेज़बान बाट जोह रहा होगा। ईरावती कुछ नहीं बोलती। बोले भी क्या ?

: २ :

उषा का नज़ारा भी मुझे मगन रखता है। अब सदानन्द भी मेरे साथ ईरावती के किनारे चला आता है। वह भी मेरी तरह एक आवारा पंछी है। ईरावती गुनगुना रही है। जो कहना है, सब कुछ कह ले, ईरावती।

सदानन्द कहता है—“आराकान और पीगूयोमा के पहाड़ ईरावती के पुराने संतरी हैं।”

मैं कहता हूँ—“सारे पहाड़ धरती के आत्माभिमान के सूचक हैं, आराकान और पीगूयोमा भी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहीं लिखा है—

—‘गीत अलापती हुई नदी तेज़ दौड़ती है—सारी रुकावटों को लांघती हुई। पर पहाड़ नदी की याद में खोया हुआ खड़ा रहता है और उसका प्यार नदी की तरफ लपकता रहता है।’

मैं तो समझता हूँ कि आराकान और पीगूयोमा दोनों ईरावती के प्यार में खोये हुए इसी तरह खड़े रहेंगे।

“रंगून की तरफ जाने से पहले कौन-सा स्थान आता है ?”

“अमरापुर।”

धरती गाती है

“अमरापुर के बाद ?”

“आभा ।”

अमरापुर और आभा दोनों ऐतिहासिक स्थान हैं । इनके बाद मिंजिआन बन्दरगाह आती है । यह उपत्यका किसी ज़माने में रण-भूमि रह चुकी है । यह पोक्कू शहर से कुछ ही मील दूर है, जहाँ छिंदविन नदी ईरावती में मिलती है । शान लोगों के इलाके से आने वाली छिंदविन एक गरीब स्त्री की तरह अपना-आप लुटा देती है । और ईरावती ठहरी पक्की सरमायादार ! फिर पीगान आता है । यह पुराना शहर है । हज़ारों पैगोबों के खंडहर इसकी बीती हुई कहानी सुना रहे हैं । इसके बाद स्टीमर नाऊँला पहुँचता है । समीप ही मिट्टी के तेल के कुएँ हैं । अंग्रेज़ और अमरीकन सरमायादारों ने इसमें बहुत रुपया कमाया है । ऊँचे-ऊँचे पहाड़ शान्त और गंभीर बुजुर्गों की तरह खड़े हैं । सारा वातावरण किसी गहरी सोच में खोया हुआ मालूम होता है । इसके बाद स्टीमर क्रम से मिंचू, जायटामिऊ और प्रोम पहुँचता है । प्रोम के बाद ईरावती कई शाखाओं में बंट कर सागर से जा मिली है ।

मैं सदानन्द के साथ कई बार रुग्ड़ चुका हूँ । उसी के कहने पर मैं रेल के रास्ते यहाँ पहुँचा । आगे का सफर रेल पर करने से बाँ आया । यों हमारा सफ़र नीरस नहीं रहा । हर छोटे-बड़े स्टेशन पर हम दो-दो तीन-तीन दिन ठहरते हुए यहाँ पहुँचे थे । परिचय-पत्रों का सिलसिला बराबर चलता रहा । रँगून से तो अगले स्टेशन के लिए एक पत्र मिला । हमारे मेज़बान ने खूब खातिर की तो मैं समझ गया कि पत्र में हमारी सच्ची-झूठी तारीफ़ के पुल बाँधे गए थे । इसी तरह यह आतिथ्य हमें हर जगह मिलता रहा ।

सदानन्द सन्यासी है । मैं उसका स्फ़ार करता हूँ । सोचता हूँ कि वह सन्यासी कैसे बन गया । पूर्व बंगाल में वह एक दरिया के किनारे पैदा हुआ था । वह बताता है कि उसका बचपन उस दरिया के साथ उसी तरह जुड़ा हुआ था, जैसे अब मैं ईरावती के साथ जुड़ गया हूँ । फिर एक तरह की आवारगी के विचार ने उसे घर छोड़ने के लिए उभारा तो वह चल पड़ा । पर वह सन्यासी कैसे बन गया ? सत्य की खोज के लिए ? नहीं तो ।

“किसी नदी के निकास तक हो आना किसी सत्य की खोज से कम नहीं ।”

“ठीक कहते हो ।”

“यहाँ से आभा तक कितने दिन लगते हैं ?”

ईरावती का पाट तंग होने लगता है । किनारों पर सागवान ही सागवान नज़र आते हैं । घने जंगल हैं । परे पहाड़ सर उठाए खड़े हैं । रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—

—‘वृक्ष, जो धरती की बेकरार आकांक्षाएँ हैं, पंजों के भार खड़े आकाश की तरफ देख रहे—‘हैं ।’

क्या इस देश के सागवानों पर भी यह बात लागू होती है ? ये वृक्ष तो काट ढाके

जाते हैं—कोई पहले, कोई पीछे। कोई इनका हमदर्द नहीं, रसक नहीं।

मांडले से चलकर सिनगुन और थाबीटाकिन शहर आते हैं और फिर मोपक, जहाँ लालों की खानें हैं। आगे भामो है। और आगे स्टीमर सिर्फ बरसात में जाता है और वह भी मिटकना तक। भामोसे मिटकना तक संपान (छोटी किशती) भी मिलती है। पर पानी तेज़ है, बहाव के प्रतिकूल चलना आसान नहीं। मिटकना से मोटर मिलती है। यहाँ से आठ मील पर माइका और मालिका नदियाँ ईरावती में मिलती हैं। ईरावती का निकास भी यहाँ से कोई दूर नहीं।

“स्टीमर सीटी दे रहा है। चलो, टिकट ले लें, स्वामी जी !”

“आज नहीं।”

मुझे गुस्सा आ रहा है। हर रोज़ ‘आज नहीं’ की रट। उसके पास किराया नहीं। ऐसे मेरे पास भी मुरिकल से एक टिकट जितने होंगे। पर किसी बीच पक्काव के दो टिकट लिये जा सकते हैं। चलें तो सही। आगे देखा जायगा। स्टीमर की सीटी सुनता हूँ तो बेचैन हो जाता हूँ। सदानन्द की सलाह बगैर मैं एक कदम नहीं उठा सकता, यह वह जानता है।

“सन्यासी तो टिकट बगैर भी स्टीमर में सफर कर सकता है।”

“पर मैं ऐसा सन्यासी नहीं।”

ऐसे का सम्बन्ध सफर से उसी तरह है, जैसे भाप का स्टीमर से। ऐसे साधु-सन्यासी तो हज़ारों नहीं, लाखों होंगे, जिनका आदेश भीख मांगना रह गया है। पर सदानन्द तो एक तरह का मजदूर सन्यासी है। कहीं कोई तक़रीर कः दी और मजदूरी पहले खरी कर ली। पर कोई-कोई सभा पीछे से धता बता देती है, या ज़रूरत के समय ऐसे देकर तक़रीर कराना स्वीकार नहीं करती।

मेरा अपना हाल भी सदानन्द से अच्छा नहीं। कलकत्ते के एक पत्र के लिए लेख भेजा था। अभी तक उसकी मजदूरी नहीं आई, और अब तो यह शक हो रहा है कि नापसन्द न हो गया हो। नापसन्द सही, पर पता तो चले। कभी-कभी जी कहता है कि शायद कल ही मनीआर्डर आ पहुँचे। अपनी तंगदस्ती को सदानन्द भी महत्ता नहीं देता। सोचता हूँ कि खानाबदोश लेखक और मजदूर सन्यासी से तो ईरावती के मल्लाह ही मंज में हैं। ईरावती गुनगुना रही है। शायद मेरे विचार का समर्थन कर रही है।

सब आदमी अपनी-अपनी जगह ज़रूरी हैं। पर यह उपेक्षा तो न रहनी चाहिए, न यह नीरसता और न यह बेकारी। दिन-दिन अमीर और ग़रीब के बीच में एक खाई बढ़ती क्यों चली जा रही है? कब बदलेगी यह समाज की हालत? सदानन्द मुस्करा रहा है। उसका दूरदर्शी मन नये ज़माने का करीब आते देख रहा है। खुद ही उसके मन में सवाल उठता है खुद ही वह जवाब पा लेता है।

ईरावती हर नये ज़माने का स्वागत करती आई है। वह कहती रही है, बहाना ही जीवन है। उसमें तूफ़ान भी आते रहे हैं। इस बार समाज में भी एक बड़ा तूफ़ान आकर रहेगा। इन विनोदी प्रवृत्तियों की जब उलझ जायंगी, जो हमें आगे बढ़ने की बजाय पीछे की

धरती गाती है

और मुझे को उकसाया करती है । सब कूड़ा-करकट बह जायगा । और फिर शायद ईरावती के पानियों पर लोनों के आंसू कभी न गिरा करेंगे ।

: ३ :

शाम के हल्के अन्धेरे में जब जीवन सिमट जाता है, मल्लाहों के गीत हम पर गहरा असर करते हैं । पाल की तरह बाजू फैला कर सदानन्द भी किनारे-किनारे दौड़ने लगता है । फिर वह आप-ही गिर पड़ता है और रेत पर चित लेट जाता है ।

पुरानी पुस्तकों में सन्यासी को यह आदेश दिया गया है कि वह एक स्थान पर बहुत न ठहरे । कहीं-कहीं तो शायद यह भी कहा गया है कि वह एक रात से ज्यादा न रुके । सदानन्द इसका पाबन्द नहीं । आखिर ये रुकावटें क्यों लगाई गई थीं ?

“स्टीमर सीटी दे रहा है । चलो, टिकट ले लें । अब तो रुपये भी आगये ।”

“इतनी भी क्या जल्दी है ?”

“सन्यासी को तो किसी स्थान के साथ इतना मोह नहीं होना चाहिए ।”

“मैं वैसा सन्यासी नहीं ।”

पर सच तो यह है कि ईरावती के इस किनारे के साथ मेरा भी मोह हो गया है । यहाँ कितनी शान्ति है । अब तो जी चाहता है कि भरी-दोपहरिया भी यहाँ आकर बिताया करूँ ।

कोई गाता है—

—‘तुम ठहरोगे नहीं ?

हमारी बातें सुनोगे नहीं ?

हम हैं ईरावती की लहरें !’

दिन का समय होता तो मैं मल्लाह का चेहरा देख सकता और अन्दाज़ा लगा सकता कि वह लहरों के बोल सुनकर कितना प्रभावित हुआ है ।

और फिर एकाकी दूसरा गीत गूँज उठता है—

—‘पानी से भरे हुए मेघ अभी बरस पड़ेंगे,

मंरुदार तो अभी पार करनी होगी ।’

मुझे याद है, एक पुराने लोक नृत्य में इस देशकी कंवारी लड़कियाँ बाजू हिला-हिलाकर चप्पू चलाने की झाँकी पेश कर रही थीं । उनके चेहरों पर भय छाया हुआ था—किरिस्तयाँ मैरुधार में थीं और सिर पर वर्षा खड़ी थी ।

फिर एक और गीत समीप आ जाता है—

—‘ईरावती की लहरों की तरह,

मेरी प्रेयसी स्वतन्त्र है !’

सदियों से इस देश की स्त्री आज़ाद है । पुरुष ने उसकी आज़ादी और खुशी पर छापा नहीं मारा । अक्सर वह अपने पति के प्रति वफ़ादार रहती है । पर जब वह देखती

है कि वह उसकी तबीयत के अनुसार नहीं रहा, तो ग्राम की पंचायत के सामने खड़ी हो कर कह देती है कि वह उसकी पत्नी बनी रहने के लिए मजबूर नहीं हो सकती। मां-बाप से मिली हुई जायदाद पर उसीका हक रहता है, और वह जिसे चाहे, उसीसे विवाह कर सकती है।

मछाहों के गीत पहले भी सुने हैं। ये भी न भूलेंगे —

१

ईरावती, अरी ओ मेरी ईरावती
ओ मेरी प्यारी ईरावती।
और सब नदियाँ प्यारी हैं
सबसे प्यारी है ईरावती।

२.

दिन भर मैं किशती चलाता हूँ
तेरे पानियों पर, ओ ईरावती !
मल्लाह का जीवन है अपने-आप में एक गीत
तेरे पानियों पर, ओ ईरावती !

३.

सुन्दर कंवारियाँ नाच रही हैं, भूम रही हैं,
तेजी से, कभी धीरे-धीरे।
तुमने यह नाच कहाँ सीखा ?
बताओ, बताओ, ईरावती की बेटियो !
हम हैं मोर और तुम हो मोरनियाँ,
मोर मारे जायेंगे और तुम रोया करोगी।
नदी के इस मोड़ पर यह नाच सीखा था उस पहाड़ पर
जहाँ से ईरावती निकलती है ?
तुमने यह नाच कहाँ सीखा ?
बताओ, बताओ, ईरावती की बेटियो !

४.

ईरावती में हमारे आँसू समाते रहे हैं, भाइयो !
ईरावती कितनी मैली हो रही है।
और जब गरीबी हमारे गले घोट देगी
ईरावती इसी तरह बहती रहेगी।

धरती माती है

५.

बहती जा, माँ ईरावती, बहती जा
तेजी से, कभी धीरे-धीरे ।
ईरावती, तू चुप क्यों है ? उदास क्यों है ?
हमारे आँसू शौक से पीये जा
हमेशा हमेशा के लिए हम हैं तेरे बेटे !
हमेशा हमेशा के लिए तू है हमारी माँ
बहती जा, माँ ईरावती, बहती जा
तेजी से, कभी धीरे-धीरे ।

६.

टूटती ज'जीरों को देखो, कंवारियो !
बुद्ध की खुलती आँखों, को देखो कंवारियो !
ईरावती की लहरों को देखो, कंवारियो !

७.

बुद्ध से पूछो चाँदनी रातें कहाँ गुजारी
चाँदनी रातें, बुद्ध की रातें ।
ईरावती के पानियों पर बुद्ध ने चाँदनी रातें गुजारी
चाँदनी रातें, बुद्ध की रातें ।
मोरों के साथ-साथ बुद्ध ने चाँदनी रातें गुजारी
चाँदनी रातें, बुद्ध की रातें ।

८.

बुद्ध जागता रहेगा, जागता रहेगा
जैसे जंगल, पहाड़, दरिया जागते हैं
जैसे मौसमी हवा के झोंके जागते हैं
जैसे मोरों के बेटे जागते हैं
बुद्ध जागता रहेगा, जागता रहेगा ।
जैसे ईरावती की लहरें जागती हैं
जैसे माँ की लोरियाँ जागती हैं
जैसे फूलों की रँगतें जागती हैं
बुद्ध जागता रहेगा, जागता रहेगा ।

९.

धीमी-धीमी चाल से नाचते हैं मोर, नाचते हैं मोर
मोर इतना काहे को नाचते हैं ?

जरा बोल तो सही, मोरों की मां !
 अपने मुँह से कुछ बोल तो सही ।
 सारा-सारा सौंदर्य मोरों के लिए ही तो है
 सारा-सारा प्रेम मोरों के लिए ही तो है
 जरा बोल तो सही, मोरों की मां !
 अपने मुँह से कुछ बोल तो सही ।
 सारे-सारे घुँघरू मोरों के लिए ही तो हैं
 सारे-सारे वाद्य-यन्त्र मोरों के लिए ही तो हैं
 जरा बोल तो सही, मोरों की मां !
 अपने मुँह से कुछ बोल तो सही ।
 सारे-सारे आँसू मोर ही तो पांते रहे
 बोझिल दिलों से मोर ही तो नाचते रहे
 जरा बोल तो सही, मोरों की मां !
 अपने मुँह से कुछ बोल तो सही ।

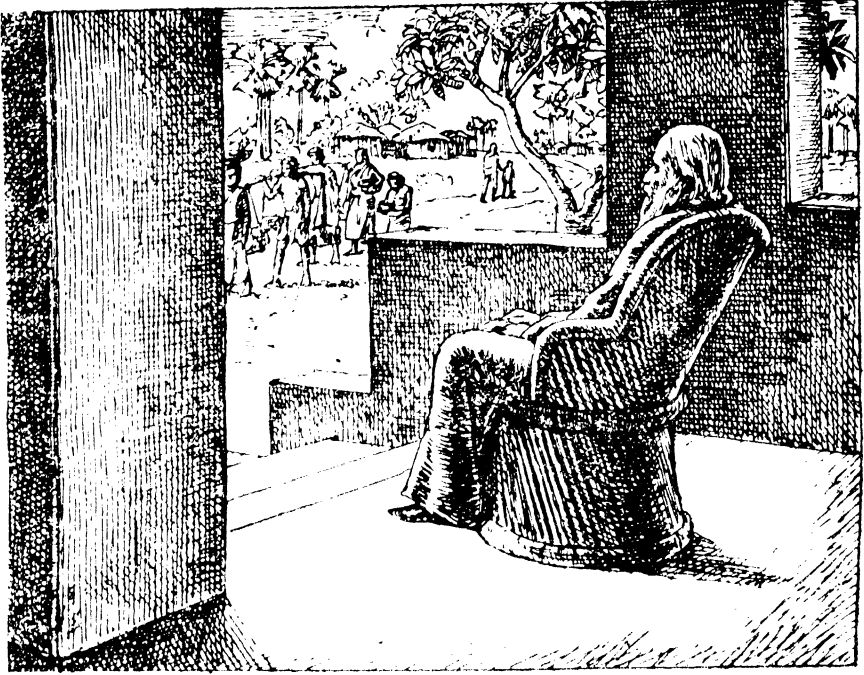
ईरावती गुनगुना रही है । शायद अपने बेटों को आशीर्वाद दे रही है । उसकी गुनगुनाहट से प्रभावित होकर मेरी तबीयत में समता आ गई है और एक खास तरह की विशाल दृष्टि ।

मेरा मन जो कुछ महीनों से पूरा कबाबखाना बना हुआ था—गैर-ज़रूरी और अन्त-सन्त चीज़ों का मालगोदाम—अब बहुत साफ़ हो गया है । यहां बैठकर मुझे नये विचार सूझते हैं । और आत्मा भावुक हो रही है । हल्के प्रभाव भी उस पर ऐसी पक्की तस्वीरें खींच रहे हैं, जो रहती दुनिया तक बनी रहेंगी । सदानन्द भी जैसे मेरे मन में बैठकर ये सब तस्वीरें देखता रहता है । अपना गोल मटियाला सिर उठाकर कभी ईरावती के उस पार देखने लगता है और कभी मेरे सिर के लम्बे बालों की तरफ, जिनकी लहरें शायद धान के पौदों की वह झांकी पेश किया करती हैं जब हवा उन्हें थपकियां दे रही हो ।

सदियों से वह इसी तरह बह रही है । वह बर्मा की मां है । मैं उससे इतना प्रभावित होता हूँ, पर क्या मैं खुद भी उसे प्रभावित कर सका हूँ ? खुदा हाफ़िज, ईरावती, कल फिर सही ।

“उठो स्वामी जी, अब घर चलें ।”

“इतनी क्या जल्दी है ?”



शान्तिनिकेतन

: १ :

मैं पान्थ जो हूँ—दूर-दूर का राही । शायद इसीलिये यह पान्थ निवास मुझे इतना पसन्द है । यह सड़क, जिसके किनारे यह मकान खड़ा है, पच्छिम की तरफ सन्थालों के गांवों से जा मिली है ।

हैंसे जाओ, सन्थाल छोकरियो, तुम्हारी हंसी में तो धरती खिलखिलाती है ।

सवेरा होते ही सन्थाल स्त्रियाँ गांव से निकल पड़ी हैं और पान्थ निवास के सामने से गुजरती हुई अपने काम पर चली जाती हैं । भूख है, सदियों की गरीबी है और बड़ी कठिन मज़दूरी में जीवन गुज़रता है, पर दैनिक जीवन को कड़वी सच्चाईयाँ उनकी हंसी को नहीं मार सकीं । शाम को इसी सड़क से वे वापस आ जाती हैं, दिन भर की मेहनत से थक कर ।

शहर और गांव तो मैंने बहुत छान मारे हैं । लोग भी मैंने बहुत देखे-भाले हैं । बार-बार मेरा मुँह पान्थ निवास की तरफ घूम जाता है । जब मैं यहां आता हूँ इसी कोने वाले कमरे में ठहरता हूँ । बारह साल से मैं इसे जानता हूँ । अब यह मेरा कमरा है ।

अपनी खिड़की से, जो सड़क की तरफ खुलती है उस छिदरी छाया वाले वृक्ष की

तरफ़ देखता रहता हूँ, जिसके नीचे चौकड़ी भूले हुए हिरण की तरह कोई सन्थाल आ खड़ा होता है। बांसुरी पर वह अपना गान खेड़ देता है। सदियों से यह बांसुरी जागती रही है। सदियों से यह गान जारी है—

क्या हैं आखिर हम सब मिल कर,
हम सब मिल कर ?—
वृत्तों का इक झुरमुट।
बार-बार बज-बज उठते हैं
ढोल पुराने वक्तों के।
लचक-लचक जाती हैं कमरें,
बाजू काले चमकीले
लचकें जैसे कमल हवा के
हलके नरम थपेड़ों से।
क्या हैं आखिर हम सब मिल कर
हम सब मिल कर ?—
वृत्तों का इक झुरमुट।

यह भाव जो पहली बार इधर आने पर एक पुरातन सन्थाल लोकगीत में सुनने को मिल गए थे, मेरे मन में नाच उठते हैं। यह कैसा गान है ? बांसुरी वाले की आंखों में आत्म-सम्मान झलक उठता है।

यह जा, वह जा, वह दूर निकल जाता है। दूर से गान की आवाज़ सुनता हूँ तो मालूम होता है कि दूरी समीपता में बदल रही है। सोचता हूँ कि सन्थाल न होते तो शान्तिनिकेतन की पृष्ठभूमि का बहुत सारा सौन्दर्य फीका पड़ जाता। इधर ये लोग कब आये ?

अठारवीं शताब्दी के आखिरी दिनों में।

सन्थाल परगना में वर्षा न होने के कारण खेत बाँस रह गए थे। अकाल से बचने के लिए कुछ लोग इधर आ निकले। होशियार ज़मींदारों की चांदी हो गई। मामूली मज़-दूरी पर वे अपनी पथरीली भूमि को खेती के लायक बनवाते चले गए। अब भी ये लोग अनथक मेहनत करते हैं।

सवेरे के प्रकाश में उन्हें अपनी खिड़की से देखता हूँ तो सोचता हूँ एक-एक सन्थाल से पूछूँ कि रात को भर-पेट खाने को मिल गया था या नहीं और जलपान कितना मज़ेदार रहा।

काका कालेज़कर लिखते हैं—“सब-के-सब सन्थाल अपना मुँह खुला रखकर ही चलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि जीवन-यात्रा में उन्हें बार-बार असफलता मिली है, और जीवन-संग्राम के लिए उनकी बुद्धि और उनका अनुभव अपर्याप्त रहा है..... सुषम हास्य और

धरती गाती है

त्रिनोद कोई नहीं देख पाता तो इनको एक दबी हुई जाति ही बताता। अगर इन लोगों को किसी खास लक्षण ने बचाया है, तो इनके संगीत और इनके नृत्य में प्रकट होने वाले जीवनानन्द ने। जापानी लोगों के बारे में कहा जाता है कि चाहे जितना संकट, दुःख, अपमान अथवा पराजय आ पड़े, जापानी हंसता ही रहेगा। यह कोई बनावटी शिष्टाचार नहीं, परिस्थिति चाहे कितनी विकट हो, जापानी अपना आत्मविश्वास खोता ही नहीं। वह जानता है कि उसका व्यक्तित्व परिस्थितियों से बढ़ा-चढ़ा है और समय पाते ही परिस्थितियों को परास्त करने की क्षमता उसमें है। ये सन्थाल भी वैसे ही आत्म-विश्वासी मालूम होते हैं। सम्भव है यह आत्म-विश्वास न हो, बल्कि परिस्थिति का बालोचित अज्ञान हो... यह संरक्षक अज्ञान न होता तो असहाय और अनाथ बच्चे कभी बड़े न हो पाते और अनन्त आकाश का विस्तार देखकर आदिम निवासी कल्पना के भार से ही दब जाते....। अगर हम जीना चाहते हैं, इन्हें अपने जैसा बनाकर अपने साथ लिये बिना चज़ नहीं सकते।”

हंसे जाओ! खिलखिला कर, भोले सन्थालो, बजाए जाओ बांसुरी। गाये जाओ गान पुराने। पर जीवन से लड़ना होगा अपने बल पर। दबकर न रह जाना। कौन खात है तरस किसी पर? स्वयं लड़ना होता है अपनी शक्ति से।

छिदरी-छिदरी छाया वाले वृक्ष के नीचे एक बुढ़ा सन्थाल आ बैठा है। अपने कमरे की खिड़की से मैं उसे देख रहा हूँ। उसके पास आ बैठने को जी चाहता है। लो अब तो सुन्दरम् भी उसके पास आ बैठा। वह इस बुढ़े का पेन्सिल स्केच बनाने आया होगा। मैं भी देखूँ चल कर।

बुढ़ा मुसकरा रहा है, सुन्दरम् भी और मैं भी।

“कितने भोले लोग हैं, ये सन्थाल।”

“जी हाँ।”

कितने भोले लोग हैं ये सन्थाल, ऐसा कहने में सुन्दरम् का लाभ है। पर वह स्वयं क्यों भोला बनना पसन्द नहीं करता? यही आदमी यों अपना स्केच न बनाने दे और अपने समय की कीमत मांगना सीख ले, तो सुन्दरम् को होश आ जाय। दक्षिण हिन्दुस्तान का यह युवक आखिर कैसा विद्यार्थी है! चित्रकार बन कर वह ऐसे कमायेगा और बहुत सम्भव है यही स्केच जो वह इस समय बना रहा है पांच-सात आने में किसी दूरिस्ट के हाथ बेच डाले... पर इससे इस बुढ़े को क्या लाभ? उसे अगर इस समय दो रसगुल्ले ही खिला दिये जायं, तो वह सुन्दरम् की तरफ अहसान भरी दृष्टि से देखने लगे।

एक अंग्रेज़ दूरिस्ट कह रहा है: “सन्थाल बहुत अच्छा लोग है।”

मैं सोचता हूँ, काश हम सब इतने अच्छे होते। अब यदि मैं यह बात सुछमसुछा इस दूरिस्ट से कह दूँ तो वह शायद फिरज़ा कर कह डटे: “आम टो सन्थाल नाई बनने पड़ता।”

कल सुन्दरम् ने एक सन्थाल छोकरी का स्केच बनाया था। पेन्सिल खजाते-चलाते

वह कह रहा था: “सौन्दर्य क्या केवल रंग तक सीमित है ? गोरे रंग और लीखी नोक पत्रक से परे भी सौन्दर्य की सोमाएं फैलती चली गई हैं ।”

सुन्दरम् ने रद्दी बाज सन्ध्याजी भाषा में या सरज बंगला में कही होती तो वह छोकरा अपने सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर समझती के उसे उसके समय की कीमत मिल गई । फिर यह सोचकर कि शायद उसके जूड़े का कूज नीचे को उलक गया है, वह उसे ठीक करने लग जाती । पर वह तो मूर्ति के समान बैठी रही थी । सम्भवतः यह उसका पहला अनुभव न था ।

सात पौष का शान्तिनिकेतन का जन्म दिन मनाया जाता है । यह “सातह पौष” वर्षों से एक मेले का रूप धार चुका है । सागर की उछलती हुई लहरों की तरह सन्ध्याल छोकरियाँ इस तट पर आती हैं और उनके अट्टहास आश्रम के शान्त वायु-मण्डल में हलचल पैदा कर देते हैं ।

“अपनी पेन्सिल तेज़ कर लो, सुन्दरम् !”

“हां भाई, सातह पौष आ गया, एक वर्ष बाद । आज मैं नई स्केच बुक में काम शुरू करूंगा ।”

“पहले किसका स्केच बनाओगे ?”

“किसी दाढ़ी वाले का ।”

“मैं जो हूँ ।”

लहरों के रेले देख लीजिए । एक लहर स्वयं मेरी पत्नी है । सन्ध्याल छोकरियों की देखा-देखी उसने पुराने ढंग के गिल्ट के मुमके खरीद कर पहन लिये हैं । सन्ध्यालने उसे देखती हैं और अजब अन्दाज़ से मुस्कराती हैं । सुन्दरम् ने जल्दी-जल्दी उसका एक स्केच बना डाला है ।

“यह स्केच मुझे दे दो, सुन्दरम् भाई !”

“नहीं यह मेरे पास रहेगा ।”

अब कविता—मेरी कन्या, अपनी माता का स्केच लेने की ज़िद कर रही है । सुन्दरम् उसके लिए इस तरह का दूसरा स्केच बना रहा है, जल्दी जल्दी ।

मेरे मन में एक सन्ध्याल लोक-गीत के भाव जाग रहे हैं—

माता पिता हैं चांद और सूर्य
भाई बहन हैं तारे सारे
सूर्य की किरनों से मेरा जन्म हुआ है
नाम है सूर्यमुखी, प्यारे !

न जाने पहले-पहल कब यह फूल खिल उठा था ? क्या यह धरती कभी इतनी बांझ हो जायगी कि ये फूल खिलने से रह जायें ? क्या मेरी पत्नी भी एक सूर्यमुखी है ?

मास्टर मोशाय (श्री नन्दलाल बोस) आ रहे हैं । बहुत खुश नज़र आते हैं । इन

धरती गाती है

मानवीय लहरों के रेले निस्सन्देह उनके दिल के सागर-तट को छू-छू जाते हैं । वे क्या सोच रहे हैं ? मैंने अपना कैमरा खोल लिया है ।

“मास्टर मोशाय ! अपनी फोटो खींच लेने दोजिए आज ?”

“मेरी फोटो ?”

“जी हाँ ।”

अपने विशेष अन्दाज़ से वे फिर कह उठे : “मैं तो इतना सुन्दर नहीं । यों ही फ़िल्म ख़राब करोगे । किसी सन्थाल कन्या की फोटो क्यों नहीं ले लेते ?”

: २ :

“क्या सोच रहे हो, पण्डित जी ?”

“कुछ नहीं ।”

पण्डित जी (श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी) उमर में मुझसे एक-आध वर्ष बड़े होंगे । उन्हें मिलने से पहले उनके लेख पढ़कर श्री प्रेमचन्द तक का ख्याल था कि उनकी उमर पचास से तो क्या कम होगी । पर मुझे यह शलत-फ़हमी नहीं हुई थी ।

पहले-पहल पण्डित जी मुझे कलकत्ता में मिले थे । यह कोई आठ वर्ष पहले की बात है । उस समय भी ये इसी तरह कहकहे लगाया करते थे । जो आदमी उनकी निगाह में न जंचे, उसकी तरफ़ टिकटिकी बाँध कर देखते रहने से वे उन दिनों भी उकताते न थे ।

रात को उनके लिए पलंग पर बिस्तर लगाया गया और मैं स्वयं एक बड़ी मेज़ पर चादर बिछा कर लेट गया । पण्डित जी मेरी तरफ़ टिकटिकी बांधकर देखते रहे । आख़िर मैंने कहा: “शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए यही हिदायत की गई है कि वह नरम बिस्तर पर न सोए ।”

विवाह से कुछ ही महीनों के बाद मैं पत्नी को घर छोड़कर चला आया था और किसी तरह यह समझने लगा था कि मैं फिर ब्रह्मचारी बन गया हूँ । फिर जब पण्डित जी को पता चला कि मैं विवाहित हूँ तो उन्होंने जोर से कहकहा लगाया ।

“क्या सोच रहे हो, ब्रह्मचारी जी ?”

“कुछ नहीं ।”

अक्सर वे तिलोत्तमा को याद किया करते हैं । इस अप्सरा के सम्बन्ध में पुराणों में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने जगह-जगह से तिल-तिल भर सौंदर्य जमा किया और फिर इससे तिलोत्तमा की रचना की । पण्डित जी का ख्याल है कि अगर ब्रह्मा ने यह सब मसाला केवल जमा किया होता और यह न सोचा होता कि आख़िर इससे किस तरह की अप्सरा तैयार करनी होगी, तो शायद सौन्दर्य का यह ढेर अपने आप में सबसे असुन्दर चीज़ सिद्ध होता ।

“लोकगीत-खोजी को भी अपनी तिलोत्तमा की कल्पना कर लेनी चाहिए ।”

“अपनी तिलोत्तमा की कल्पना मैंने कर रखी है ।”

पण्डित जी यह मानते हैं कि कुछ लोकगीत इतने सरस और मार्मिक होते हैं कि कालिदास और भवभूति भी उनके सामने हेच नज़र आते हैं, पर सभी गीतों पर तो यह बात लागू नहीं होती।

“लोक-मानस भी गीतों को जन्म देते समय उन्हीं भावों से स्पन्दित और आन्दोलित हुआ है जिनसे कालिदास और भवभूति प्रभावित हुए थे। इसी तरह घास और बाँस प्रकृति के एक ही महकमे से सम्बन्ध रखते हैं, पर कोई भला आदमी बाँस की जगह घास का प्रयोग नहीं करेगा। हमारे पड़ोसी सन्थाल लोग पुराने रहन-सहन पर मुग्ध हैं। हम उनसे स्नेह कर सकते हैं पर इसका भाव यह तो नहीं कि हम स्वयं भी सन्थाल बन जायें। सन्थाल बनकर हम समय का अपमान करेंगे। आज की सभ्यता क्या चाहती है? यही न कि हम नये युग के साथ-साथ चलें।” हाँ तो मैं कह रहा था कि लोक गीतों के निर्माता कालिदास, भवभूति और रवीन्द्रनाथ की विशादरी ही से हैं, पर इसका भाव यह तो नहीं कि आज का कवि लोकगीत लिखने लगे और कालिदास, भवभूति और रवीन्द्रनाथ से मुंह मोड़ ले। क्या यह बात अफ़सोस करने के योग्य नहीं कि हमारे कुछ युवक कवि अब ऐसे गीत लिखने लगे हैं जिनसे ख़दर-प्रचार में मदद मिले? और हमारे कुछ साहित्य-सेवी उनकी पीठ ठोकने लगे हैं।”

“मैं आपसे सद्गत हूँ, पण्डित जी!”

जब भी मैं लोकगीतों के बल पर जनता के सुख-दुःख का जिक्र करता हूँ, पण्डित जी बात का रुख बदलकर मेरा ध्यान उस सभ्यता की ओर मोड़ देते हैं जो उनके विचारानुसार प्राचीन आर्यों के हिन्दुस्तान में आने से पहले इस देश में मौजूद थी।

“लोकगीतों की सहायता से हम एक पुराने संसार को प्राप्त कर लेंगे जिसे या तो हम भूल चुके हैं या जिसे शूलत समझ बँटे हैं। राजनीतिक रूप से तो आर्य लोगों ने हिन्दुस्तान को जीत लिया था, पर उस सभ्यता को जो पहले से यहाँ मौजूद थी और इस विशाल देश के हर भाग में ज़रा-ज़रा फ़र्क के साथ-साथ साँस ले रही थी, आर्य लोग पराजित न कर सके थे। आज भी हमारे जन-साधारण के रस्म-रिवाजों में आर्यों से पहले की उस सभ्यता की कुछ-न-कुछ झलक पाई जाती है। प्राचीन लोकगीत उस सभ्यता पर प्रकाश डाल सकते हैं। पुरातत्व विभाग वालों को यह बात बुरी न लगे तो मैं कहूँगा कि प्राचीन लोकगीतों का महत्व मांहुँजोदारों सरीखे खँडहरों से कहीं ज्यादा है।”

“आप सच कहते हैं, पण्डित जी!”

“एक बार लिथुआनिया का एक प्रोफ़ेसर शान्तिनिकेतन देखने आया था। अपने भाषण में उसने बताया कि पिछले पाँच सौ वर्षों से उसका देश हँसाई धर्म के पंजे तले रखा है और बराबर स्वाधीनता के लिए लड़ता आया है। हँसाई विजेताओं ने पुराने साहित्य को नष्ट कर दिया। अब जब इस देश को स्वतन्त्रता मिल चुकी है वह अपनी प्राचीन राष्ट्रीय संस्कृति को फिर से ज़िन्दा करना चाहता है। लोगों के पास सिर्फ़ वे लोकगीत ही बच पाए

धरती गाती है

हैं जो शताब्दियों से उनके हाँठ चूमते रहे हैं। इन गीतों के प्रकाश में लिथुआनिया अपनी खोई हुई दुनिया को ढूँढ लेना चाहता है। लोकगीतों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और अभी कई संग्रह तैयार किये जा रहे हैं..... उस प्रोफ़ेसर ने मुझे बताया था कि लिथुआनिया की पुरानी सभ्यता पर भारतीय संस्कृति का बहुत असर रह चुका है। जब एक व्यक्ति यहां दूसरे व्यक्ति से मिलता था तो 'राम राम' कहा करता था और जब कोई मर जाता था तो उसके सम्बन्धी 'राम नाम सत्त' कहा करते थे।"

"लिथुआनिया के लोकगीतों पर कोई पुस्तक अंग्रेजी में जरूर मिल जायगी। ऐसी सब बातें मैं बहुत ध्यान से पढ़ूँगा पण्डित जी।"

"एक बार मैंने भी युक्त प्रांत और बिहार की सीमा पर स्थित एक गांव में लोकगीतों का अध्ययन शुरू किया था। माता देई—शीतला, की पूजा के एक गीत में एक पद ऐसा भी आता था, जिससे यह पता चला कि माता देई का विवाह किसी 'अलीशेर' (अलीशेर ?) से हुआ था। मैंने यह गीत लिखकर एक हिंदू मित्र को दिखाया तो वह बोले: 'हिन्दू स्त्रियों को यह गीत गाना बन्द कर देना चाहिए।' फिर जब यह गीत श्री मनमोहन घोष एम० ए० को दिखाया गया तो वे बोले : 'यह अलीशेर अलीशेर का बिगाड़ा हुआ रूप नहीं बल्कि किसी बौद्ध महायान मरमी का विकृत नाम होगा। इससे मिलता-जुलता एक नाम मैंने बौद्ध भिक्षुओं में पाया भी है।'...कौन कह सकता है कि 'अलीशेर' का ज्ञान हमारी किसी बड़ी जानकारी का साधन नहीं होगा?"

"इस गवेषणा के लिए अनेक धन्यवाद, पण्डित जी। बहुत से बौद्ध गान और देवी देवताओं के नाम हमारे लोकगीतों में छिपे पड़े हैं। सुनता हूँ भूपेन्द्रनाथ दत्त ने कुछ ऐसे गीत खोज निकाले हैं।"

"इस दिशा में गम्भीर खोज की आवश्यकता है। एक बार मैं क्षिति बाबू के साथ घूमने निकला तो मैंने देखा कि सन्थाल स्त्रियों की एक टोली हाथों में पुआल की मशाल जलाते हुए गाती चली जा रही है। ये स्त्रियां दूर निकल गईं, तो क्षिति बाबू ने पूछा: 'कहिये, क्या सुना?' और जब मैंने बताया कि गंगा पूजने जाती हुई स्त्रियां मेरे अपने गांव में भी इसी लय में गाया करती हैं, तो क्षिति बाबू बोले : 'गंगा आर्यों का शब्द नहीं है। उनके यहां आने से पहले यह हिन्दुस्तान की स्थानीय जाति में प्रचलित था। ये सन्थाल भी उसी प्राचीन जाति में से हैं। आपके प्रान्त की स्त्रियों ने गंगा-पूजा का वह गीत किसी ज़माने में सन्थाल स्त्रियों से ही सीखा होगा।'.....आपके संग्रह में मुझे एक गुजराती दुलहन का दुःखान्त गीत बहुत पसन्द है। बेचारी का अपना पति एक घरेलू गलत-फहमी के कारण सोने के कठोरे में ज़हर धोलकर उसे पिला देता है। सारे गीत पर वेदना का वायु-मण्डल छा रहा है। ऐसा कोई गीत सन्थालों में भी जरूर मिलना चाहिए।"

"जरूर मिलना चाहिए, पण्डित जी।"

"तुम्हारे लोकगीत मुझे प्रिय हैं, यह शान्तिनिकेतन भी मुझे प्रिय है ...कभी

किसी लाटरी में यदि मुझे पचहत्तर लाख रुपये मिल जायें तो पाँच लाख तुम्हें दे दूँ जिससे तुम लोकगीतों का प्रकाशन बड़ी सुन्दरता से करते रहो और बाकी रुपये से हम हिमालय पर एक नया शान्तिनिकेतन स्थापित करें।”

‘ज़रूर, ज़रूर।’

: ३ :

सातह पाँच के मेले पर पिछले वर्ष श्री सी० ऐफ० एंड्रूज़ मुझसे यों मिले थे जैसे कोई बाप वर्षों के बिछड़े हुए बेटे से मिलता है। चायना-भवन की ओर उनके साथ जाते हुए मैंने देखा कि वे सभी से बग़लगीर होकर मिलते हैं। सामने से कोई सन्ध्याल आ जाता तो वे उसे भी छाती से लगा लेते। मुझे यों महसूस हो रहा था कि मैं स्वयं हज़रत ईसा मसीह के हमराह चला जा रहा हूँ।

इस बार उन्हें कलकत्ते में काम था। सातह पाँच के बाद वे यहाँसे फौरन चल दिए।

वे कह रहे थे : “कौन जाने अगले सातह पाँच पर तुम किधर रहो और मैं किधर रहूँ। पिछले वर्ष की तरह अबकि हम फिर मिल सकें, यह कुछ कम बात नहीं है..... तुम्हारे कार्य से मुझे बहुत दिलचस्पी है। हर कार्य एक साधना मांगता है, एक धुन। और मैं तो समझता हूँ कि गाँव वालों के गीत बड़ी खूबी के साथ हिन्दुस्तान का धक्कता हुआ दिल हमारे सामने ले आते हैं।”

चलते-चलते वे कह गए कि मैं उनकी फोटो जल्द भेजूँ। क्रिश्मस की सुबह को उनकी जो फोटो मैंने ली थी उसमें उनकी भरपूर हार्दिक खुशी को दिखाने का यत्न किया था।

उन्हें वह फोटो और भी पसन्द आयी जिसमें कविता—मेरी कन्या, उनकी गाँव में बैठी है। उन्होंने बताया था : “जीवन का एक महान् आनन्द मुझे उस समय मिलता है, जब किसी बच्चे का हाथ मेरी दाढ़ी को छू रहा होता है।”

मानवीय लहरों के वे ज़बरदस्त रेले अब नज़र नहीं आते। पान्थ निवास के सामने वाली सड़क पर फिर वही खामोशी छा रही है।

दूर से बाँसुरी की लय कान तक पहुँचती है और समय गुज़रता रहता है।

सवेरा, दोपहर, शाम।

वर्तमान भूल बन जाता है। भविष्य वर्तमान बन जाता है। गाने से पेट तो नहीं भरता, पर गाना भी ज़रूरी है। शताब्दियों से यह बाँसुरी कांपते, डगमगाते आदमी का सहारा रही है। शताब्दियों से यह कभी सोई नहीं। यह यहाँ न होती तो शान्तिनिकेतन का बहुत सारा सौन्दर्य फीका पड़ जाता और मैं तो समझता हूँ कि गुरुदेव की कविता भी उससे प्रभावित हुई है।

आसाम से लौटकर दार्जिलिंग में गुरुदेव से मिला था तो उन्होंने मेरी ऑटोग्राफ़-बुक में ये शब्द लिख दिये थे—

दुनिया की खाना-बदोश हस्तियो !

मेरे शब्दों में छोड़ जाओ अपनी खोज ।

मैं सोचने लगा था कि सन्थालों ने भी, जो अठारहवीं शताब्दी के आखिरी दिनों में इधर के गांवों में आ बसे थे और रोज़ इस सबक पर चलते हैं जो पान्थ निवास के सामने से गुज़रती है, गुरुदेव की कविता में ज़रूर अपनी खोज छोड़ी होगी ।

कल ही की बात है । मैं गुरुदेव को फोटो दिखा रहा था । एक सन्थाल छोकरी के चित्र पर उनका ध्यान जम गया । मैंने पूछा “आपको यह चीज़ पसन्द आई ?”

“ज़रूर,” वे बोले, “इसका नाम होना चाहिए, धरती की पुत्री । किस तरह आंखें भुका रखी हैं उसने ! यह लाज तो खेतों की लाज है जो धान की तरह उगती है... ज़रूर यह धरती की पुत्री है ।”

“तो इसे आप रख लीजिए” मैंने खुश होकर कहा ।

गुरुदेव ने मेरी तरफ़ मुस्करा कर देखा और तसवीर अपने सेफ़्टरी के सुपुर्द कर दी ।

“मैं तो समझता हूँ,” मैंने कहा, “कि वह सन्थाल लड़की जिसने अपने गीत में दरिया के किनारे की चट्टान तले सोये हुए पानी से अपने प्यार की तुलना की है, और किसी युवकको सम्बोधन करके कहा है कि वह बांसुरी न बजाए ताकि यह सोया हुआ पानी जाग न उठे, ज़रूर कोई ऐसी ही कंवारी कन्या होगी...”

“मेरा भी यही विचार है” गुरुदेव बोले ।

उत्तरायणके दरवाजेसे ज़रा परे सबकके किनारे किंकर दा (एक अध्यापक) सीमेंटकी द्वा-
तीन कंठे-आदम मूर्तियां बनवा रहे हैं । एक सन्थाल स्त्री ने सिर पर टोकरा उठा रखा है । एक पुरुष कांवर उठाए हुए है । पास ही उनका कुत्ता हुकम में बँधे हुए आदमी की तरह खड़ा है । पहले काठ के ढांचे खड़े किये गए थे । अब सीमेंट कंकरीट से काम किया जा रहा है । जब ये चीज़ें पूर्ण हो जायंगी तो आश्रम का सौंदर्य और भी बढ़ जायगा । परे गांवों से आते हुए सन्थाल सुबह के प्रकाश में दूर से इन मूर्तियों को देखकर क्या साचा करेंगे, यही सोच रहा हूँ । दिल कहता है कि यह चीज़ तो आज से बहुत पहले बन जानी चाहिए थी ।

किंकर दा कह रहे हैं : “ये मूर्तियां बहुत ज्यादा क्रिनिश नहीं की जायंगी । वैसी ही सादा और खुरदरी हालत में रहेंगी जैसे कि आज से कई वर्ष पहले एक अप्सरा की मूर्ति में प्रयोग किया गया था जो अब भी कला-भवन होस्टल के समीप खड़ी है ।”

मैं कहता हूँ: “देवताओं और अप्सराओं की मूर्तियां तो बहुत बनाई गईं, पर स्वयं धरती के वासियों का यह प्रतिनिधिख अलग विशेषता रखता है ।”

दूर से सन्थाल बाँसुरी के स्वर समीप आने लगते हैं । मेरे मन में वही पुराना गीत जाग उठता है जो बारह वर्ष पहले प्रथम बार इधर आने पर सुना था—‘क्या हैं आखिर हम सब मिलकर ? वृक्षों का एक भुरमुट ।’

संथाल लोकगीत मुझे प्रिय हैं। एक-एक गीत मेरे सामने एक-एक चित्र बन जाता है—एक हिलता-बोलता चित्र—

१.

यह कैसा ढोल बजाने वाला है ?
ढोल बजाते-बजाते वह बेहोश हो गया
कटोरी में थोड़ा जल लेती आओ, युवती !
उसे हम होश में ले आयेंगे ।

२.

‘तुम हो एक नर्तकी, मैं हूँ एक गायक
आज हम दोनों की भेंट हो गई ।’
‘बहुत अच्छा, ओ ढोल बजाने वाले !
गीतों के दिन आ गए ।’

३.

हम दोनों तो सखियां थीं
हम दोनों में गहरी मित्रता रही है
आओ हम घड़े नीचे रख कर ईँढरियां बदल लें
आओ हम पहले की भांति सखियां बन जायें ।

४.

तुम्हारे पास एकतारा है
मेरे पास रंगीन बांसुरी है
रात भर तुम गाया करते हो
तुम्हारा गीत मेरे मन में बस गया ।

५.

मण्डप के नीचे दो युवतियां हैं
वे बड़े मजे से नाच रही हैं
यदि बदन और सदन ढोल बजायें
युवतियों की ओर से धूल का बादल उमड़ आयगा ।

६.

‘तुम तो पांच-रंगी फूल हो, दीदी !
जामाता आँख का काजल है
जामाता को बाँट दो, दीदी !’
‘काँच होता, पीतल लोहा होता या कपड़ा-लत्ता होता

धरती गाती है

तो मैं बाँट भी सकती थी, बहन !
अपना बालम तो बाँट नहीं सकती ।'

७.

किस तरह की युवतियां
किस तरह के युवक
गली में धूल उड़ा रहे हैं ?
(मछलियों की तरह) छिलबिल-छिलबिल करने वाली युवतियां
और 'कुरसी' फूलों जैसे युवक
गली में धूल उड़ा रहे हैं ।

८.

ओ मेरे साजन, नीचे मेरे गाँव में आओ
आओ हम खड़े होकर बातें करें
तुम दूध पीना चाहो तो मैं तुम्हें दूध दूँगी
तुम दही खाना चाहो तो मैं तुम्हें दही दूँगी
पर तुम तो केवल कबूतर के शोरबे ही से खुश हो सकोगे ।

९.

ओ श्वेत पर्वत की दोनों फाखताओ !
तुम्हें क्या दुःख था कि तुम उड़ गईं ?
यह दिन की गरमी थी
यह रात की ओस थी
यह ओस थी जिसने तुम्हें उड़ने पर मजबूर किया ।

बजाए जाओ बांसुरी, भोजे सन्थालो ! गाये जाओ गान, नये पुराने । गाना भी जरूरी है । शताब्दियों का बोझ जो झेलना होता है । तुम्हारे गीतों में गाती है धरती माता, अरुन्धी, प्राचीन धरती माता । पर जीना होगा अपने बल पर । दब कर न रह जाना । कौन खाता है तरस किसी पर ? ... हाय, जीवन की कबूची सचाईयां !



लंका देश है कोलम्बो

: १ :

तारों की छाया में हम तीनों सागर के किनारे बैठे हैं—मैं, मेरी पत्नी और बेटी कविता। दूर तक सबक चली गई है—सागर के किनारे-किनारे। गरीब मज़दूर के जमे हुए लहू की तरह इसका रंग काला है। सबक के किनारे यह फुटपाथ, जिस पर पड़ी बेंच पर हम बैठे हैं, काफी उभरा हुआ है—किसी विधवा की आँख की तरह, जो लगातार रोने से सूज गई हो।

“यह जुगनू है माँ! दूर देश का राही”—बचपन में पहली बार जुगनू पकड़कर जब मैं अपनी माँ के पास ले आया था, तब मैंने यह बात बड़े गर्व से कही थी। जुगनू मेरी मुठ्ठी में बन्द था और उंगलियों की दरार से आती हुई उसकी मन्द ज्योति मुझे बहुत भली प्रतीत हो रही थी। वह जरूर किसी दूर देश का कीड़ा है और रात होते ही अपने हमजो-लियों-समेत, किसी जादू के असर से, हमारे देश में चला आता है। यह सोचता हुआ मैं हिरण के बच्चे की तरह आँगन में कूद रहा था।

“इसे छोड़ दे, बेटा! कहीं ऐसा न हो कि इसके पंख टूट जायं। बड़े नन्हे पंख होते हैं इसके, बेटा! पीछे इसको माँ बेचैन न होती रहे!” माँ की यह सीख मान कर

धरती गाती है

मैंने जुगनू को छोड़ दिया था। पर इसके बाद भी वर्षों तक मैं जुगनुओं के पीछे भागता रहा। हाँ, यह डर ज़रूर लगा रहता, कि कहीं मेरा घर इतना पीछे न रह जाय कि मैं रास्ता भूल जाऊँ।

कोलम्बो में पहुँच कर मुझे बचपन के बीते दिन याद आ गए हैं। जुगनुओं के पीछे दौड़ता, दूर निकल जाने से डरने वाला बच्चा, बड़ा होकर इतनी दूर सागर-पार आ पहुँचेगा, यह कौन जानता था ? यह तो मेरी माँ भी न जानती थी।

सागर अपनी भाषा में न जाने क्या बोल रहा है ? शताब्दियों से उसकी आवाज़ जारी है। दूर से एक लहर सिर उठाये हुए आती है। जब तक पहली लहर किनारे पर आकर टकरा चुकी होती है, उसकी जगह से परे दूसरी लहर, जो उससे भी ज़बरदस्त होती है, सिर उठाकर किनारे की ओर चल पड़ती है, और फिर उससे भी परे दोनों से बड़ी लहर सिर उठाती है।

सागर की इन तीनों लहरों के बारे में लंका के लोग एक कहानी सुनाते हैं। आज भी ये तीनों लहरें एक-एक आत्मा अपने कन्धों पर उठाये नाच रही हैं। एक युवक अपनी बहन के चांद-से मुखड़े को देखकर उसकी इतनी प्रशंसा करने लगा कि नारी बनने से उसका मन उब गया, और शरमाकर उसने सागर में छलांग मार दी। उसे आत्महत्या करते देख भाई भी पीछे कूद पड़ा। बेटे और बेटी को बचाने की इच्छा से उनकी माँ भी उनके पीछे हो ली। लोग कहते हैं कि सबसे बड़ी लहर पर उस लड़की की आत्मा सवार है उससे छोटी लहर पर लड़के की आत्मा और उससे भी छोटी लहर पर माँ की आत्मा। शताब्दियों से ये आत्माएँ बेचैन हैं। तीन लहरें अलग-अलग उठती हैं, किनारों से अलग-अलग टकराती हैं और आजतक तीनों आत्माएँ एक दूसरी को मना नहीं सकीं।

कोलम्बो के इस विशाल सागर की ओर देखते हुए मुझे एक कहानी याद आ रही है, जो मैंने अलमोड़े के एक ग्राम में सुनी थी।

एक पहाड़ी नाला सोचने लगा कि उसे किसी छोटी बरसाती नदी से नहीं, बल्कि सागर की बेटी से विवाह करना चाहिए। वह घर से चल पड़ा। रास्ते में एक नदी मिली। उसने पूछा—“तुम किधर जा रही हो ?”

“मैं हम और पचास कोस तक जाऊंगी।”

“तो मुझे भी अपने साथ ही लेती चलो। मैं सागर की बेटी से विवाह करने जा रहा हूँ ?”

“चलो, जहां तक मैं जाती हूँ। आगे मैं तुम्हें किसी दूसरी बहन के हवाले कर दूंगी।”

चलता-चलता वह सागर तक जा पहुँचा और उसे सम्बोधन करके बोला: “मैं आप की बेटी से विवाह करूँगा।”

“पर अब तो चौमासे के दिन हैं। इन दिनों हमारे यहां विवाह की बाबत कोई बात-चीत नहीं हो सकेगी। अभी जाओ, फिर आना। मैं अपनी बेटी की सम्मति भी पूछ लूँगा।”

नाला चला गया। कैसे ? कौन जाने ? और चौमासे के बाद उसमें इतना जल ही न रहा कि वह सागर की ओर चल सकता। वह केवल सागर की बेटी के स्वप्न देखता रह गया।

सागर की बेटी क्या सचमुच पहाड़ी ग्रामों की किसी सीता, खूबानी और चमेली से भी अधिक रूपवती थी ? हुआ करे। मैं तो आदमी हूँ। कोई पहाड़ी नाला नहीं हूँ। मुझे जो पत्नी नसीब हुई है और जो इस समय मेरे साथ बेंच पर बैठी है, मेरी निगाह में सागर की बेटी से कहीं अधिक रूपवती है।

“सागर की लहरें क्या बोल रही हैं, पिताजी ?”

“वे कहती हैं, कविता हमारे साथ खेले। जाओ, बेटी !”

कविता चल पड़ी है। फुटपाथ से नीचे उतर रही है। लो, वह रेतीले तटपर चली गई। वह दौड़ रही है—अजब अन्दाज़ से, जैसे वह कथाकालि-नृत्य का अभ्यास कर रही हो। पर वह तो लौट रही है। जब वह सागर की लहरों से हिल जायगी तब शायद हमारे बाध्य करने पर भी घर लौटने का नाम न लिया करेगी।

कविता फिर हमारे साथ बेंच पर आ बैठी है। फैलती हुई आंखों से कभी मेरी पत्नी सागर की ओर देखती है और कभी कविता की ओर।

“कविता हमारे सागर की लहर है।”

“हां।”

मेरे मुख से यह एक ही शब्द सुनकर मेरी पत्नी के गालों पर वही लाली दौड़ रही है, जो मैंने पन्द्रह वर्ष पहले देखी थी, जब वह आदम-कद आईने के सामने खड़ी कभी अपनी लजीली आंखों को देखती जाती थी और कभी कनखियों से मेरी ओर।

पुरानी कथाओं में खीर-सागर की बहुत प्रशंसा हुई है। पर क्या वह इस सागरसे भी सुन्दर है जिसे लंका का पुराना इतिहास याद है ? इसे कोलम्बो का बचपन तो हरगिज़ न भूला होगा। खीर-सागर में शेषनाग ने विष्णु भगवान् के लिए मुलायम शय्या बना रखी है। विष्णु भगवान् लेटे हुए हैं। उनकी पत्नी लक्ष्मी उनके पैर दबा रही है।

खूब कल्पना है। हुआ करे। यह सब देवताओं की कहानी है। मैं तो आदमी हूँ और कोलम्बो में सागर के किनारे अपनी पत्नी और बेटी-समेत बेंच पर बैठा हूँ।

: २ :

जब से मैं कोलम्बो में आया हूँ, मेरी शरीबी और भी ज़ाहिर हो गई है। जिस मकान में मैं रहता हूँ, उसके करीब हो एक बेकरी है। बेकरी का मालिक कौन जाने मेरी बाबत क्या सोचता रहता है।

“यहां नौकरी की तलाश में आये हो, साहब ?” कुछ दिन पहले उसने मुझसे प्रश्न किया था।

जब मैंने उसे बताया कि मैं यहां लक्का के लोकगीत जमा करने आया हूँ, तो वह

धरती गाती है

हैरान रह गया। वह खुद लज्जा का आदमी है—पक्का बौद्ध। सिंहाली, जो उसकी मातृभाषा है, वह बहुत सुन्दर बोलता है। सिंहाली लोकगीत उसने कभी नहीं सुने और न वह उनका महत्व ही समझता है। शायद वह मुझे दीवाना समझता है। लोकगीत ही जमा करने थे, तो मैं अपनी पत्नी और बेटी को साथ लिये क्यों मारा-मारा फिरता हूँ देश-देश में? और मैं कोलम्बो में क्यों रहता हूँ? किसी ग्राम में जाना चाहिए। अब मैं उसे कैसे समझाऊँ कि शुरू में यहाँ रहना जरूरी है, ताकि इधर के साहित्य-सेवियों का सहयोग पा सकूँ, जो इस कार्य में किसी भी तरह मेरा हाथ बंटा सकते हों।

शारीबी खानाबदोश लेखक का पीछा नहीं छोड़ती।

इस बेकारी को देखता हूँ, तो मुझे सारा कोलम्बो शहर एक बड़ी भट्टी मालूम होने लगता है। इस भट्टी में मैं डबल-रोटी की तरह सेंका जाऊँगा। यह निगोबी किस्मत भी तो एक नानवाई ही है। कितना जंचा हुआ है उसका हाथ। गुंथे हुए ओटे के लोए बनाती, उन्हें ठप्पों से गुजराती और सेंकती वह कभी ऊबती नहीं।

“यही लज्जा देश है, पिताजी?”

“हां, कविता!”

वह चुप हो गई। कौन जाने कल वह फिर यही प्रश्न दुहराए। बचपन में हम क्यों एक ही प्रश्न बार-बार पूछा करते हैं? एक बार जवाब पाकर थोड़ी देर के लिए तसल्ली भले ही हो जाय, पर प्रश्न बराबर उठता रहता है।

कहां है रावण? कहां है उसकी लज्जा का सोना? हनुमान ने उसका महल जला डाला था। पर इतना सोना कहां चला गया? हां, तो क्या रामायण का रावण केवल कवि वाल्मीकि की कल्पना से उत्पन्न हुआ था? और क्या कवि की कल्पना का धरती के साथ-धरती के जीवन के साथ—कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता?

यह किसी कवि के स्वप्नों की लज्जा का हाल नहीं है। लज्जा का रहन-सहन हिन्दु-स्तान के औसत जीवन से ऊंचा है। हर चीज मंहगी है। जीवन के ऊंचे रहन-सहन का कष्ट जितना गरीब खानाबदोश लेखक महसूस करता है उतना खास लज्जा वालों को नहीं होता। उनको अधिक खर्च करना पड़ता है, तो वे अधिक कमाते भी तो हैं।

शॉटिंग करते हुए इन्जनों की तरह सजे-धजे महाशय आंखें मटकाते निकल जाते हैं। सागर के किनारे शाम के समय आप भी आइये और फैशन का पूरा नाटक देख लीजिए।

अभी कल मिस्टर सिलवा की पत्नी जापानी जारजेट की साड़ी के लिए अपने पति से रुपये माँग रही थी। मुझे अपने एक बंगाली मित्र की तंगदस्ती याद आ गई। बहुत उदास होकर मिस्टर मुकर्जी ने मुझे बताया था कि उनकी पत्नी नया महीना चढ़ते ही कह उठती है कि उसी दिन उसके लिए नई साड़ी आ जानी चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ मिसेज़ मुकर्जी डाका की असली रेशमी साड़ी माँगती थी, वहाँ मिसेज़ सिलवा

विदेशी कपड़े के सस्तेपन पर लहू हो रही हैं। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ। बेचारे मिस्टर सिलवा पर खर्च का बोझ कम पड़ता है।

कोलम्बो में हिन्दुस्तानियों की बहुत-सी दुकानें हैं। सजी-धजी स्त्रियाँ अपनी जरूरत की चीज़ें आप खरीदने आती हैं। हर दुकान पर सौन्दर्य का मेला-सा लगा रहता है। साड़ी का मोल पूछने वाली लड़की की धीमी, मीठी आवाज़ सुनकर सादी सूरत और पोशाकों वाला हिन्दुस्तानी कारिन्दा अपने दिल में एक गुदगुदी-सी जरूर महसूस करता होगा। पर उसे इतनी फुर्तन कहाँ कि वह यह सोचे कि वह लड़की अभी 'मिस' ही है या 'मिसेज़' बन चुकी है ? यहाँ यह और बेटी की पोशाक में वह कोई भेद नहीं देखता। बौद्ध दुलहिनें माँग में सिन्दूर भी नहीं भरतीं।

“लंका देश अजीब है ! यहाँ सुहागिन और विधवा की भी कोई पहचान नहीं।”

“ठीक है।”

“हैं तो आखिर रावण की लंका ही न !”

बिसाती की दुकान से यह आवाज़ सुनाई देती है। मुझे हँसी आ रही है। ड्राम चल रही है। मोटर-कारें इधर-उधर घूम रही हैं। फिर भी यह रावण की ही लंका रही !

कोलम्बो के पत्रों से मुझे अपने लेखों की मज़दूरी मिलने लगी है। कुछ रुपया मद्रास से आ रहा है। अब मकान वाले का आदमी हमारे यहाँ किराया लेने आता है, तो मुझे अपने ऊपर क्रोध नहीं आता। इस मकान में बिजली का भी अजब प्रबन्ध है। एक खाने में पच्चीस सेंट (चवन्नी) का सिक्का डालना होता है। मीटर से पता चलता रहता है कि बिजली कितनी बाकी है। इस सिक्के के हिसाब की बिजली खर्च होते ही अँधेरा हो जायगा। फिर नया सिक्का डालना होगा। आज तो पहला सिक्का ख़तम होने से पहले ही दूसरा सिक्का डाल दिया है।

: ३ :

क्या लंका के इतिहास में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जिसे अपनी पटरानी से ऐसा ही प्रेम रहा हो, जैसा शाहजहाँ को अपनी मलका से था ? काश, यहाँ भी किसी ऐसे राजा ने कोई मक्कबरा बनवाया होता। उसे परनी को दिखाते हुए मैं वही शब्द दुहराता, जो आगरे में मेरे मुख से निकल पड़े थे: “यह सिराँ शाहजहाँ की भेंट नहीं। यह पुरुष की भेंट है नारी के लिए !” उस समय मुझे अपनी गरीबी भूल गई थी। मैं भी एक शाहजहाँ था और मेरी परनी एक सुमताज़ महल।

सूर्योदय से पहल सागर-तट पर खड़ा होना एक बड़ी खुशकिस्मती है। पहले क्षितिज पर वह लाली नज़र आती है, जो पहली बार दूल्हे के सामने आ खड़ी होने पर लजाऊ दुलहिन के गालों पर नाच उठती है। खुद मैंने ही ललचाती आँखों से हज़ार बार सूर्य भगवान् को अपने साँने के रथ पर सवार होते देखा है। रावण की लंका का सारा सोना

धरती माती है

कहीं सूर्य भगवान के रथ पर तो खर्च नहीं हो गया ? पर यह रथ तो पुराना—सैकड़ों रावणों से पहले का है ।

कल शाम को विश्व कवि रवीन्द्रनाथ की एक कविता मुझे बहुत गुदगुदा रही थी ।
—‘सायंकालके हलके आँधरे में सब चीजें भूत-प्रेत बन जाती हैं । मीनारों के निचले भाग आँधरे में खो गए हैं । वृक्षों की चोटियों मानो स्याही के धब्बे बन गई हैं । मैं सुबह की प्रतीक्षा करूँगा और जाकर तेरे शहर को देखूँगा ।’

अब सवेरे के प्रकाश में सोचता हूँ कि कहीं यह कविता कवि ने कोलम्बो को अपने सम्मुख देखकर ही तो नहीं लिखी थी । कवि कभी आकाश को देखता है और कभी असीम सागर को, जिसके दर्पण में सूर्य सदा से अपना मुख देखता आया है । रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—
—‘तेरी भाषा क्या है, ओ सागर ?’

‘अनादि प्ररन की भाषा ।’

‘तेरा उत्तर कौन-सी भाषा है, ओ आकाश ?’

‘अनादि मौन की भाषा ।’

सागर की लहरें नाच रही हैं—दक्षिण हिन्दुस्तान की देवदासियों की तरह । इन लहरों को किस देवता की पूजा का शौक लगा है ? शिव की मूर्ति तो इस तट पर कहीं दिखाई नहीं देती ।

: ४ :

रामायण में लिखा है कि रावण शिव की पूजा किया करता था । बुद्ध की लंका में भी शिव का पुत्र कन्दे स्वामी, जिसे हिन्दू-ग्रन्थों में कार्तिकेय कहा गया है, जनसाधारण के हृदयों पर बराबर राज्य कर रहा है । कन्दे स्वामी का अर्थ है पहाड़ का स्वामी । पहले यह देवता तीन चोटियों वाले पर्वत पर रहता था । एक दिन वह नीचे नदी के ‘उस पार, जहाँ वृक्षों का झुरमुट नज़र आ रहा था, जाने के लिए व्याकुल हो उठा । तब वह केवल तामिल लोगों का देवता था ।

एक दिन कुछ तामिल उधर से गुज़रे । देवता बोला: “ओ अच्छे लोगो ! मुझे नदी के उस पार तक ले चलो ।”

वे बोले: “ओ भले देवता, हम नमक जमा करने जा रहे हैं । देर हो गई तो वर्षा आ जायगी और हमारा सब नमक धुल जायगा ।” यह कहकर वे चलते बने । देवता नाराज़ हो गया ।

फिर उधर से कुछ सिंहाली गुज़रे । देवता बोला: “ओ अच्छे लोगो ! मुझे नीचे ले चलो, उस नदी के पार ।”

सिंहाली उसे नीचे ले गये । देवता खुश हो गया । उसने वरदान दिया कि भविष्य में सिर्फ सिंहाली मरल में से ही उसका बड़ा गुजारी सुना जायगा । आज तक यह वरदान

अटल है। कन्दे स्वामी के बड़े मन्दिर में, जो लंका के दक्षिण-पूर्व में कतरगाम में है, सिंहाली पुजारी चला आता है।

कोलम्बो में भी, जहाँ अलग-अलग जातियों के तीन लाख लोग रहते हैं, कन्दे-स्वामी के भक्त मिल जायेंगे। तामिल लोग उसे 'सुबरमन्यम्' कहते हैं। जब धरती पर देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ था, तो देवताओं की कौजी शक्ति का नेता यही देवता था। वह युद्ध का देवता है और मोर की सवारी करता है।

द्राम में एक बौद्ध भिक्षु से भेंट हुई। पता चला कि वह मांस नहीं खाता। मैंने यह महसूस किया कि खुद बुद्ध भगवान् मेरे सम्मुख विराजमान हैं।

"अहिंसा के हामी और इस पर मांसहारी!" मैंने कहा—"आप लकड़ा वालों को समझाते क्यों नहीं?"

वह केवल मुस्कराया। मैंने सोचा बुद्ध भगवान् भी इसी तरह मुस्कराते होंगे।

"लोग बाज़ार से मांस खरीदते हैं, खुद किसी जीव को नहीं मारते—वैसे खाने को उन्हें किसी भी तरह के मांस से परहेज़ नहीं।"—पास की सीट पर एक अंधे उम्र का आदमी बोल उठा।

बौद्ध भिक्षु को मैंने नमस्कार किया, तो वह फिर मुस्कराया।

वह अंधे उम्र का आदमी हँसने लगा। वह यही समझा कि उसने मुझे निरुत्तर कर दिया है।

द्राम से उतर कर मैं श्री जे० विजयतुंग के यहाँ पहुँचा। "आइये, आइये!" वे बोले।

अपने घर के सामने वे घास पर टहल रहे थे। घास उन्हें सदा प्यारी रही है। अपनी पुस्तक का नाम रखते समय भी वे इसे भूले नहीं। सुन्दर नाम है—'मेरे पेरों के लिए घास।'

"अपने ग्रामके लोगोंको आपने छोटी नदी पर मछली पकड़ने दिखाया है," मैंने कहा, "आपकी पुस्तक में यह बात पढ़कर मैं तो चकित रह गया।"

वे हँसने लगे और फिर कुछ शैप-से गए।

"आपने बहुत सुन्दर वर्णन किया है।"

"हाँ, हाँ, मैंने कुछ झूठ नहीं लिखा। मैंने सच-सच लिखा है। एक हमारे ग्राम में नहीं, अन्य ग्रामों में भी स्त्रियाँ रात का बचा-खुचा भात नदी में ला गिराती हैं। मछलियाँ उसे खाने के लिए लपकती हैं। तभी कोई स्त्री ऐसी चालाकी से डलटी हाँडी मछलियों के ऊपर फेंक कर बाहर निकालती है कि उसमें कभी-कभी चन्द-एक मछलियाँ रसोई की ज़रूरत के लिए आ फँसती हैं।"

"तो आप इसे ठीक समझते हैं?"

"अब यह मैं कैसे कहूँ?" वे कुछ शैप-से गए।

अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा है—"मछली पकड़ने का यह उपाय अहिंसा और मित्रता के आदर्श पर टिका हुआ है। ये मछलियाँ, जो रात का बचा भात खाती हैं, बारी

धरती गाती है

बारी से रसोई में पकाने के लिए पकड़ ली जायँ ,तो कोई पाप थोड़े ही है ?”

मज्जहब के साथ आदमी का यह मजाक बहुत पुराना है ।

: ५ :

यह गाड़ीवान गांव का आदमी है । इसकी आवाज़ बांसुरी के स्वरों से मिलकर बनी है । कोलम्बो की सबक पर पहुंच कर भी उसने अपने गांव को भुला नहीं दिया । मालूम होता है, वह अभी-अभी किसी स्वप्न से जागा है । वह गा रहा है—

—‘अन्धकार में जुगनू उड़ रहे थे

उनके पंखों से टिमटिमाती रोशनी आ रही थी

और किसी की मासूम-सी मधुर आवाज़ मेरे कान में पड़ी—

‘अजी ओ ! तुम उसके ध्यान में क्या सोचने लगे हो ?’

केवल गांव की किसी लड़की की आवाज़ ही गाड़ीवान के कानों तक पहुँची थी । यह आवाज़ उसका प्यार जगा गई । पर उसका मित्र, जो खुद शायद प्यार की दुनिया से परिचित नहीं, हैरान हो रहा है । उसे क्या मालूम कि प्यार सिर्फ रोशनी में ही नहीं पैदा होता ।

गाड़ीवान अपने बैलों को भी नहीं भूलता । वह गा रहा है—

—‘दूसरों का पेट पालने के लिए तुम दुःख-सुख उठाते हो

दिन-रात काम करते हो, मार सहते हो

दर्द की टीसें उठाते हो

अजी ओ बैल, कितने ही आदमी तो तुमसे भी कम महत्व रखते हैं !’

पर कोलम्बो शहर के वातावरण में लोकगीत की आवाज़ बहुत अजनबी मालूम होती है । लारियों के झूहवर छकड़े को देखते हैं तो मुँह फेर लेते हैं और हँस पड़ते हैं । गाड़ीवान लारी का हार्न सुनता है तो सहम जाता है—वह भी और उसके बैल भी, जिन्हें गीतों में वह बार-बार सम्बोधन करता है ।

सिंहाली लोकगीत के स्वर मेरी ज़बान पर चढ़ रहे हैं । बरसात में जैसे गीले खेतों की सुगन्ध उठती रहती है, उसी तरह किसी भी देश के संगीत की प्रतिभा हम तक पहुंचती है और हमें मोह लेती है ।

कुछ गीत तो मुझे कोलम्बो में ही मित्रों के सहयोग से प्राप्त हो गए हैं । अब मैं लंका के विभिन्न भागों की यात्रा करूँगा । जब मुझे लंका से विदा लेकर हिन्दुस्तान लौटना होगा, तो मैं विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की एक कविता में दुनिया की बजाय लंका बदलकर कह उठूँगा—

—‘ओ मेरी लङ्का ! मैं तेरे तटपर अपरिचित की भांति आया । मैं तेरे घर में अतिथि बनकर रहा । और अब मैं तेरे द्वार से मित्र बनकर विदा लेता हूँ ।’

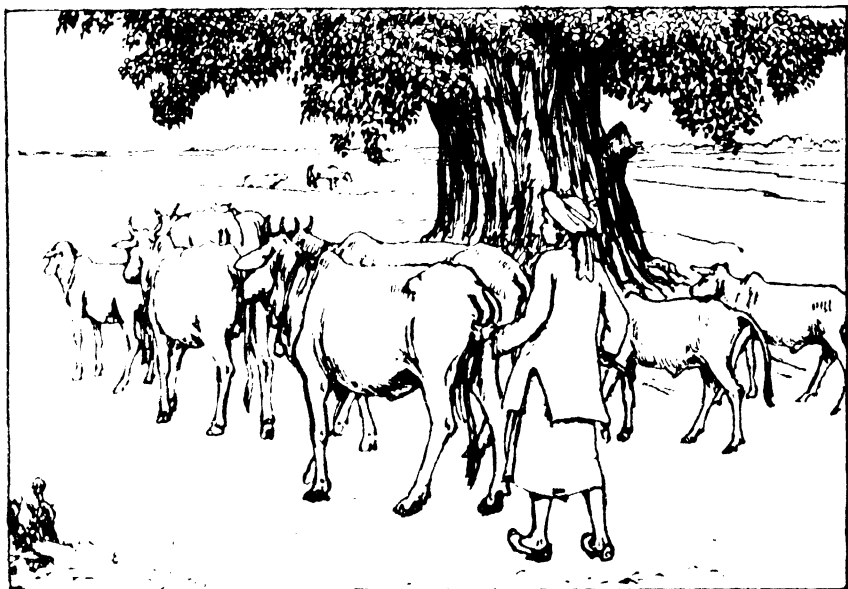
‘यह रावण की लङ्का है या बुद्ध भगवान् की ?’

‘दोनों की, कविता !’

‘सचमुच ?’

‘सचमुच ! और इससे भी सच तो यह है कि लकड़ा तुम्हारी भी है, तुम्हारी माता की भी और मेरी भी ।’

हम तीनों समुद्र के किनारे बैठे हैं—मैं, मेरी पत्नी जयजयवन्ती और बेटी कविता वसुमती । सामने असीम सागर, अपने अनादि नृत्य में । यह सबक, जो किनारे-किनारे चली गई है और जिसका रंग मजदूर के जमे हुए लहू की तरह काला है, कोलम्बो के तीन लाख लोगों के सुख-दुःख की ही नहीं हमारे सुख-दुःख की भी श्रमानतदार है । सबक ही नहीं, यह फुटपाथ भी, जो राबर उभरा हुआ है—किसी दुखयारी की आंख की तरह, जो लगातार रौने से सूज गई हो ।



पृथ्वी पुत्र

वचपन की खुशियां, जिनके निशान मेरे हृदय पर अब भी कायम हैं, हमारे इस बूढ़े वट-वृक्ष को भी याद होंगी। किसी दिन यह वृक्ष जवान था और इसकी भावनाएं किसी किसान वृद्ध के मीठे सपनों से भी मनोहर थीं। उन दिनों शायद इसकी छाया इतनी घनी न थी। पर जहां तक मेरी याद का सम्बन्ध है, मैंने इसे बुढ़ापे की दशा से ही गुजरते देखा है। कभी-कभी मैं सोचता हूं, इसका रूप आज भी वैसा ही है जैसा उस रोज़ होगा जब मैं पहली बार इसकी छाया में आ बैठा था।

दिन-दिन, पल-पल इस वृक्ष ने पथिकों की बातें सुनी हैं। वह चुप है ज़रूर, पर उसे लोक-जीवन की सैकड़ों घटनाओं का पता है। सैकड़ों जाड़ों, गरमियों और बरसातों की कहानियां, अमीरी गरीबी की खींचातानी, अनगिनत रुग्ण और तमाशे—इन सबने उसके हृदय पर बेहद सूक्ष्म निशान छोड़े हैं। इसके नीचे का कच्चा चबूतरा, जो अब आधे से ज्यादा टूट-फूट गया है और जिसके प्रति शीतल छाया का मज़ा लेने वाले चरवाहे और किसान लड़के अपनी कोई जिम्मेदारी महसूस नहीं करते, पहले बहुत सुन्दर था। यहां बैठकर मैंने अनेक बार इस वृक्ष के कांपते पत्तों की ओर टकटकी लगाकर देखा था। कई-बार तो मैं इसके तने से इस तरह लिपट गया था, जैसे अपने मासूम हाथ फैलाकर मैं अपने पिता की टांगों से जा लिपटता था।

हमारे गांव के इतिहास के साथ इस बूढ़े वट-वृक्ष का यह अटूट सम्बन्ध किसी विशेष व्याख्या का मुहताज नहीं। रुढ़ा से आदमी और वृक्ष के बीच प्रेम की सूक्ष्म

भावना कायम है और यह सम्बन्ध सदा कायम रहेगा। वृक्ष तो हमारे गांव के चारों ओर बीतों नहीं सैकड़ों हैं, पर जो सन्तोष मुझे इस बड़े वट-वृक्ष के नीचे बैठकर मिलता है, और कहीं नहीं मिलता। कभी-कभी तो मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि वह गहरा सांस ले रहा है और पथिकों की ओर से निगाह फेर कर मेरी ओर देख रहा है। उसकी निगाहों में एक ठोस सचाई भरी है—वही सचाई जो कठिन परिश्रम के बाद छाया में बैठे किसान और मजदूर को शताब्दियों से महसूस होती रही है।

यह वृक्ष यहां न होता तो पास का यह नहर का पुल बिलकुल बेरौनक होता। नहर सरहन्द की यह छोटी शाखा जिस पर सैर करने के लिए मैं खुशी-खुशी चला आता हूँ, बहुत पुरानी नहीं। इसे इधर आये चालीस साल हुए होंगे। जब खुदाई का काम हो रहा था, मजदूरों और मजदूरनियों के पसीने से तर मस्तक देखकर, उनके हंसी मज़ाक और गाली-गलौज को सुनकर, उनकी छिपी हुई भावनाओं में मनुष्यता की मौलिक अनुभूति पाकर यह वट-वृक्ष बहुत तृप्त हुआ होगा। और फिर जब यह पुल बनना शुरू हुआ था तो ठेकेदार और सरकारी इंजीनियरों में घूसखोरी देखकर सभ्यता और सरमायादारी का सार भी उस पर खूब खुल गया होगा।

पृथ्वी में जकड़े हुए वृक्ष चलने की इच्छा रखते हैं और आदमी एक ऐसे स्वर्ग की अभिलाषा में भटकता फिरता है, जहां से मुकुटधारी देवता भी मुक्त होने के लिए व्याकुल हैं !

क्या हमारा यह बड़ा वट-वृक्ष भी चलने की इच्छा रखता है ? ऐसी अच्छी ठौर इसे और कहां मिलेगी ?

वह एक राही जा रहा है। बुढ़ापे के मारे बेचारे की देह कांप रही है। वह ज़रा रुक क्यों नहीं जाता ? इतनी भी क्या ज़रूरी है ?

आ जाओ सरदार जी, ज़रा विश्राम कर लो।

मेरी आवाज शायद राही तक नहीं पहुंची। वह चला गया। दूर, बहुत दूर। बड़ा वट खामोश खड़ा है।

मैं भी तो सपनों के क़िले बना रहा हूँ। चाहता हूँ दूर खित्तिज के पास जा पहुंचूँ, जहां मोद की परियां लोरियां गा रही हैं। बड़ा वट खामोश खड़ा है। शायद वह कहना चाहता है: 'देख किस तरह अपनी बांहें फैला रखी हैं मैंने तेरे चारों ओर। क्या मेरी छाया की लोरियां सुन्दर नहीं ?'

जब तक यह वट-वृक्ष यहां खड़ा है तब तक यह धीरे-धीरे हर किसी के कान में कहता है: 'स्नेह और बक्ष्ण एक ही सुन्दरी के दो गाल तो हैं।' टफटकी लगा कर मैं इसकी चोटी की ओर देखने लगता हूँ।

वृक्ष के शान्त स्नेह में वे शलत-फहमियां कहां जो आदमी के संसार में पग-पग पर नज़र आती हैं ?

धरती माती है

कोई किसान छोकरी गा रही है। चोटी के पत्ते जगमग-जगमग कर उठे। पंजाबी भाषा का यह गीत सैकड़ों वर्षों से दिलों की यात्रा करता आ रहा है !

उड़ गये त्रेल दे मोती
पैलां पौंदी दे ।

—‘ओस के मोती टूट गए,
मैं तो मोर की तरह नाच रही थी ।’

‘रात ने सूर्य से कहा—तुम चांद के हाथ प्यार के पत्र भेजा करते हो। मैं उनका उत्तर ओस के रूप में घास पर छोड़ जाती हूँ ।’—रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहीं लिखा है।

गांव की कन्या यह जानती तो यों अपने पैरों के नीचे ओस के मोती न तोड़ देती। बूढ़ा वट शायद पृथ्वी को इस पुत्री को पुकार-पुकार कर कहना चाहता है—तुमने ओस के मोती क्यों तोड़े ?

यह लो, दो बच्चे चले आ रहे हैं। घर पर मां-बाप खुशकियां देते हैं। पर बूढ़े वट के पास केवल शान्त स्नेह है, जो उनके मन में गड़ता चला जाता है। सूर्य की ओर मुंह किये वे गा रहे हैं—

सूरजा मूरजा
भग्गा देऊँ टोपी देऊँ
तेड़ नूँ लंगोटी देऊँ
करारी धुप्प कड्ड दे ।

—‘ओ सूरज मूरज !
मैं तुम्हें कुरता दूँगा, टोपी दूँगा
कमर के लिए लंगोटी दूँगा
तेज धूप निकाल दो ।’

बच्चों की किलकारियां सुनकर बूढ़े वट-वृक्ष की खामोशी में कुछ अन्तर नहीं आता। सैकड़ों बच्चे बारी-बारी यहां आते हैं। ‘छोटे बच्चों को मेरे पास आने दो। स्वर्ग का राज्य उनमें ही है !’—मसीह का यह बोल मेरे मन में गूँज उठता है।

स्कूल मास्टर बच्चों को डांट कर कहता है—सबक क्यों नहीं याद किया ? बूढ़े वट-वृक्ष के नीचे छलांगें मारने से क्या लाभ ?

बच्चों को यह हिदायत फ़ज़ूल प्रतीत होती है। सदियों से वे सूर्य के लिए कुरते, टोपी और लंगोटी की भेंट लिये हाजिर रहे हैं। शर्त यही है कि वह जाके मैं ज़रा तेज चमके और बच्चों के चारों ओर गरम किरणों का जाल बुन दे।

बूढ़ा वट एक मस्त कवि की तरह खड़ा रहता है। किसानों के गीतों का वह पुराना सरपरस्त है, पृथ्वी-पुत्रों की अमीरी-गरीबी का चरमदीद गवाह है। शायद वह उनके दिलों की बाँटें भी भांप लेता है—

पिपल गावे बोहड़ गावे
गावे हरियाला तूत ।
खड़ के सुन, राहिया !
तेरी रूह होजूगी सूत ।

—‘पीपल गाता है, बड़ गाता है,
हरियाला शहतूत गाता है ।
खड़ा होकर सुन ओ राही !
तेरी रूह ठीक हां जायगी ।’

बिरछां दे गीत सुन के
मेरे दिल विरुच चानण होगया ।

—‘वृक्षों के गीत सुन कर
मेरे दिल में प्रकाश हो गया ।’

मस्त हवा में, जादू-भरे वातावरण में, जब वसन्त की देवी ललचाई निगाहों से एक-एक वृक्ष और पेड़-पौधे की ओर झूमती इठलाती चली आती है, पृथ्वी की रंग-रंग में मधु-भरा संगीत समा जाता है । आत्मविस्मृति की अवस्था में शायद हर वृक्ष कुछ-न-कुछ गुनगुनाता है ।

शांत घड़ियों में पत्तों की मामूली सरसराहट सुनकर भी राही के सन्मुख अक्सर वृक्ष का हृदय खुल जाता है । वृक्षों के संसर्ग में, उनकी भाव-भरी सरसराहट से प्रभावित होकर आदमी हमेशा पृथ्वी के गहरे भेद पा लेता है ।

न अकेला आदमी भला, न अकेला वृक्ष । गांव का कवि हमेशा अपनी राय देता आया है :

कली होवे न वणां विरुच टाहली
कल्ला न होवे पुत्त जट्ट दा ।

—‘शीशम भी जंगल में अकेला न हो,
और न इकलौता बैठा हो किसी किसान के घर में ।’
लोकगीत गांव के वातावरण में गूंजते रहने हैं—पृथ्वी के गीत, वृक्षों के गीत—

बेरियां नूँ बेर लगगदे
तै नूँ कुज्ज न लगगा, मुटियारे !

—‘बेरियों पर बेर लगते हैं,
पर तुझे कोई फल न लगा ओ युवती !’
रुत्त यारियां लौण दी आई,
बेरियां दे बेर पक गये ।

—‘मित्रता लगाने की ऋतु आ गई ।
बेरियों के बेर पक गए ।’

धरती माती है

मैंनूँ कल्ली नूँ चुबारा पा दे
रोही वाला जण्ड वड्ड के ।

—‘मेरे लिये अलग चौबारा बनवा दो ।

बियावान के जण्ड को काट कर (शहतीर बना लेंगे) ।

वेहड़े ला तरवेणी,
छाँवें बैह के कत्तया करूँ ।

—‘आंगन में एक साथ तीन वृक्ष लगा दो ।

उनकी छाया में बैठ कर मैं चरखा काता करूँगी ।’

थड़ियां बाभ न सोंहदे पिप्पल
फुल्लां बाभ फुलाहियां
हस्सां नाल हमेलां सोंहदियाँ,
बन्दों नाल गजराइयां
‘धन्न भाग मेरे’ आखे पिप्पल
‘कुड़ियां ने पीघाँ पाइयाँ ।’
सौण विच्च कुड़ियां ने
पीघाँ असमान चढ़ाईयां ।

—‘बबूतरों के बिना पीपल सुहावने नहीं लगते

न फूलों के बिना फुजाही के वृक्ष,
हस्सों के साथ हमेलें भली लगती हैं,
बन्दों के साथ गजराइयां ।

‘मेरा अहो भाग्य’—पीपल कहता है,

‘कन्याओं ने मुझ पर भूले डाले ।’

सावन में कन्याओं ने,

अपने भूले आसमान की ओर बढ़ाए ।’

‘बिरछा बिरछा ’ तोता बोलया

‘इक्के तेरी जिमीं भैड़ी

इक्के तेरा मुड्ड पुराणा ।’

न मेरी जिमीं भैड़ी

न मेरा मुड्ड पुराणा ।

इक्के खादा नवाब दीयां डाचियां

इक्के शतीर कप्प खड़े तरखाणां

तरखाणां दे मरण बरुचड़े

आवण दुक्क दुक्क मकाणां

मरण नवाब दीयां डाँचिया
नाले आपूँ मरे नवाब सियाणा !

—‘वृक्ष ओ वृक्ष’—तोता बोला

‘एक तो मेरी भूमि बुरी है

दूसरे तेरा तना पुराना है ।’

न मेरी भूमि बुरी है

न मेरा तना पुराना है ।

एक तो मुझे नवाब की ऊँटनियां खा गईं

दूसरे तरखान शहतीर काट ले गये

तरखानों के बच्चे मर जायें

उनके सम्बन्धी मातमपुर्सी को आयें

नवाब की ऊँटनियां मर जायें

और वह सयाना नवाब स्वयं भी मर जाय !’

लोकगीतों ने बार-बार पृथ्वीपुत्रों को गुदगुदाया है ।

बच्चे की तरह मैं इस बूढ़े वट की गोद में चला आता हूँ । खेतों से लौटते हुए किसानों के गीत रहस्यपूर्ण खामोशी को चीरते हुए मुझ तक पहुँचते हैं ।

दिन बीत जाता है और रात खी की तरह, जो अपने कन्धों पर केश बिखराए बैठी हो, पृथ्वी को अपने अंचल में छिपा लेती है ।

रात के बढ़ते हुए अन्धकार में हमारा यह वट-वृक्ष, जो मेरे बूढ़े दादा की तरह काला कम्बल ओढ़े खड़ा रहता है, अपने भावों में खो जाता है, और घर जाने से पहले मैं इस बूढ़े वृक्ष के तने से एक दो घड़ियों के लिए लिपट जाता हूँ ।

अपना मन-भाता पुराना गीत गाता हुआ मैं नहर का पुल पार करके घर की राह लेता हूँ—

नदी किनारे रुखवड़ा मड़ा सी अमन अमान

डिगदा होया बोलया—जी दे नाल जहान !

—‘नदी के किनारे वृक्ष अमन अमान से खड़ा था ।

गिरता हुआ वह बोला—जान के साथ जहान है ।’

वे सब फूल जो कल रात अपनी भीनी-भीनी सुगन्ध से लिपट कर सो गए थे, अब जाग उठे हैं । बूढ़े वट-वृक्ष ने भी काला कम्बल उतार फेंका है ।

एक नहीं, दो-चार नहीं, बीसियों किसान अपने-अपने बैल खिये नहर के पुल से गुजर रहे हैं, जल्दी, बहुत जल्दी । कोई मूँछों पर हाथ फेर रहा है । कोई आँखें मल रहा है ।

‘सूर्य भगवान को लाख-लाख नमस्कार ।’

धरती माती है

‘हां हां, सूर्य’ को मेरा भी नमस्कार । वह रोज़ चमकता है ।’

‘इस बूढ़े बट देवता को भी मेरा नमस्कार ।’

‘मेरा भी ।’

सदा सेम नव औरवृक्ष के बीच में प्यार की एक सूक्ष्म भावना चली आती है, और यह सम्बन्ध हमेशा कायम रहेगा । पृथ्वी में जकड़े हुए वृक्षों की रंगों में लहू दौड़ रहा है, कभी तेज चाल से, कभी धीरे धीरे—मानव के लहू की तरह ।

हमारे बूढ़े बट-वृक्ष को जड़ें पृथ्वी की नब्ज पहचानती हैं ।

कितना असीम है जीवन का विस्तार—मानव और वृक्ष दोनों पृथ्वी पुत्र हैं ।

बूढ़ा बट-वृक्ष एक अनुभवी और बुजुर्ग की तरह खड़ा हमारे गांव को देख रहा है ।



देसां मां देस हरियाना

हरियाना-प्रवास के पहले रोज़ ही एक ग्राम में मुझे यह लोकोक्ति प्राप्त हुई—देसां मां देस हरियाना, जिते दूध दही का खाना । और मैंने हरियाने की गाय देखी, उसके स्वास्थ्य का, उसकी अधिक-से-अधिक दूध दे सकने की सामर्थ्य का बखान सुना, तो मन ने इसे 'दूध दही की धरती' मान लिया । यहां किंवदन्ती है कि एक बार स्वयं गोपालकृष्ण इधर आ निकले थे, और तभी से यह हरियाना—हरि (कृष्ण) की भूमि—कहलाया । कृष्ण ने यहां के दूध की प्रशंसा की थी, यहां के दही को सर्वोत्तम बतलाया था; पर वह ब्रज को छोड़कर सदा के लिए इधर न बस सके थे, इधर गोपियाँ न थीं, न राधा उनके साथ इधर आने को तैयार थी । कृष्ण की मुरली की गूँज अब भी बाकी है, और गाय के कान उसे पूर्णमासी की खामोश रात में कभी-कभी अब भी सुन लिया करते हैं । लोक-कथा तो यह भी बतलाती है कि तब गाय मुँह ऊपर करके वेदनामय आवाज़ निकालती है, जैसे वह उस गोपाल को फिर से बुला रही हो, जैसे वह उसे अपनी वर्तमान रक्षा-हीनता पर चार अश्रु गिराने को कह रही हो । और मैंने हरियाने के लोकगीत की विषाद-रेखा में गाय को करुण पुकार का कुछ अंश देखा भी है ।

हरियाना—गुड़गाँव, हिसार, रोहतक, करनाल का प्रदेश—बांगर, नहरापुर और खादर, तीन भागों में बाँटा जा सकता है । बाँगरे का खेत हमेशा बादलों का आसरा ताकते हैं; जब नहर नहीं निकली थी, नहरापुर का भी प्रायः यही हाल था; खादर वह भाग है जो जमुना के साथ-साथ चला गया है, जमुना की कड़ार से इसका जन्म हुआ था । बांगर का

धरती माती है

किसान शरीबी का सामना करता आया है, उसकी वेदना उसके गीत में, उसकी पृष्ठभूमि में मिलती गई है। नहर के पानी ने नहरापुर को हरियाला ज़रूर बना दिया; पर यह न समझना चाहिए कि वहां शरीबी रही ही नहीं। कभी-कभी तो माखियांना भी पूरा नहीं निकलता और किसान का गीत बासे फूल की भाँति सुरमाया हुआ एकदम मरियल प्रतीत होता है। अभी तक किसान के गीत ने नहर के पानी को अर्घ्य नहीं दिया है। खाहर का किसान घाटे में नहीं रहता, तभी उसका गीत भी उसके जीवन की भाँति ही अधिक स्वप्निल होता है। उसका गीत वहां से आरम्भ होता है, जहां जीवन हँसता है, जहाँ बेफिकरी के फौरन बाद ही आलस्य का भी आगमन हो जाता है। और खाहर-निवासियों पर लोक-कथाने कई बार व्यंग्य कसा है; और उस किसान की बात, जिसने अपने पेट परसे मक्खी उड़ा देने के लिए दूर से अपनी पत्नी को पुकारा था, लोकोक्ति में समाया चाहती है। यों हरियाने में हिन्दू, मुसलमान, छोटे, बड़े, धनी गरीब, सभी बसते हैं; पर मुख्यतया यह जाट-भूमि ही है।

अपनी मातृभाषा को जिसे जाट या बाँगर का नाम मिल गया है, जाट ने काफी बल दिया है। जिस शब्द को वह अपनी वाणी में स्थान देता है, उसे एक अपना ही उच्चारण भी प्रदान करता है। साधारण हिन्दी शब्द भी जाट के होठों पर जाकर उच्चारण के एक खास जोर और घुमाव से एक नवीन रूप-रेखा या अर्थ लेता है। समस्त हरियाने की भाषा एक ही नहीं है। जिन्हें शिक्षा मिली है, या जो ग्रामों में नहीं रहते, प्रायः ऐसी भाषा बोलते हैं, जो हिन्दी के पीछे चलती है; पर वे लोग जो जाट के पड़ोस में धरती के नज़दीक के धन्धों से रोटी कमाते हैं, जाट-भाषा बोलते हैं। यह दूसरी बात है कि इनके उच्चारण में जाट का-सा बल नहीं आ पाता। भाषा के भेद ने लोकगीत को भी बाँट दिया है। जाट-भाषा का रूप भी सब जगह एक-सा नहीं है; इसमें भी भेद है। 'जहाँ' के अर्थ में कहीं 'जिते' कहते हैं, कहीं 'जबै'; 'तेरे' और 'थरे', 'मेरे' और 'म्हारे', एक ही अर्थ में, थोड़े-थोड़े फासले पर चलते हैं। राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है; पंजाबी रंग भी आता है। शतदल में जैसे मकरन्द होता है, सीपी में जैसे स्वाति-बूँद मोती को जन्म देती है, लोक-भाषा के साधारण शब्दों में गायक की स्वर-लहरी एक नई ही आत्मा डालती चलती है। धंसी-रव की-सी कोमलता जाट गीत के भाग्य में नहीं बदी। उधार लिये शब्दों में भी जाट-गीत एक अपनापन ले आया है; और जब कवि गीत को जन्म देता है, तो वह शब्द-व्ययन और वाक्यों के घुमाव में एक स्वतन्त्र पुरुष की भाँति एक निजी रूप रेखा को सामने रखता है। यों हरियाने की हर एक जाति ने लोकगीत की सृष्टि में भाग लिया है। और जब भी कोई गहरा और विस्तृत अध्ययन हरियाने के लोकगीत को प्रकाश में लायेगा, तो हम इसे दो अभ्यायों में बाँटा पायेंगे—(१) जाट-गीत, (२) अन्य जातियों का गीत।

जाट लोकगीत खेत के पास-पास पला है। गीत के विकास में खेत की कोख धन्य

हुई है। बाजरे के लिट्टे, मकई के भुट्टे या गेहूँ की बालें देखकर फिर जाट का गीत सुनिये। जाट की कविता को आप एक दुलहिन के रूप में पायेंगे और दुलहिन भी वह, जिसका सिंगार खेत में डगी हुई वस्तुओं से हुआ है। शायद आप उसकी किसी लट में गेहूँ की कोई बाल देख पायें, या शायद वह बाजरे का लिट्टा या मकई का भुट्टा लिये मचलती चली आ रही हो, खेत की मेंढ के ऊपर-ऊपर अपने कान पर मूँग की फली लगाए। और जब मधु-रजनी का मखन-गान पंख लगाकर उड़ता है, दुलहिन की आँखों में आप-ही-आप लज्जा आ समाती है। परिश्रमी किसान के लिए जीवन एक सुख-स्वप्न ही तो बन जाता है; तब वह गरीब नहीं रहता, मधु-मिश्रित सोम नशा लाता है, जैसे स्वर्ग एकदम उसके घर में ही आ गया हो।

‘जाट ज्ञात गङ्गा’, हरियाना की एक लोकोक्ति है। गंगा में जितनी प्रहणशीलता है, इधर-उधर से आई धाराओं को अपने में समाकर गंगा रूप दे सकने की जो सामर्थ्य है, वही जाट लोकोक्ति में भी है। जाट की भी अपनी ही एक नीति है; कोई उसे यों ही ठग नहीं सकता। ‘जाट-विद्या’ उसकी नीतिकुशलता का दूसरा नाम है। ‘अनपढ़्या जाट पढ़्या बराबर, पढ़्या जाट खुदा बराबर’ में उसकी तटस्थता लोकोक्ति की अमर वस्तु बन गई है। ‘जाट मरया जब जाणिए जब बरबौड्ढी (बरसी) हो जाय’। जाट वीर होता है और उसकी मृत्यु यों ही नहीं हो सकती। खानाबदोशों की एक लोकोक्ति में यही गुण खाना-बदोशों की फोली में डाला गया है, ‘खानाबदोश के शरीर के दस भाग करने से क्या उसे खत्म कर दिया गया है ? नहीं, आपने एक से दस खानाबदोश बना दिए हैं।’ जाट के ये सभी गुण उसके गीत में भी आ गए हैं।

जाट गीत को परे रखकर हरियाने की कल्पना करना ऐसा ही है, जैसे मधुमक्खियों के बिना मधुकोश पा सकने का व्यर्थ प्रयत्न। विवाह गान का अंचल पड़ोसी प्रान्तों के विवाह गान से छू गया है। बालक-जन्म के गान का तथा कुछ भूले के गीतों का भी यही हाल हुआ है। इससे क्या ? जाट को अपने हृदय-मन्थन के लिए विस्तृत समय मिला है। उसका गीत फसल के साथ-साथ पकता है। चौबे कन्धों वाला, सूर्य के प्रकाश में तपे हुए मुख वाला यह धरती का बेटा अपनी रूप-रेखा में समस्त जाट जाति को पेश करता है। जब वह हँसता है, आप भी अपने हृदय में हँसी की लहर उठती पाते हैं; जब वह गाता है, समस्त जाट-जाति के दिल की धड़कन सुनी जा सकती है। जाट की जीवन-कथा उसके गान से कहीं अधिक लम्बी है।

जाट का कौमी गायक सांगी जब सारंगी पर गान करता है, जाट-हृदय उधर आकर्षित हुए बिना नहीं रहता। यह जरूरी नहीं कि सांगी स्वयं जाट-जाति में से हो। और जब वह गाता है, उसका कथानक नाटकीय रूप में होकर बहता है। प्रेम और यौवन का इतिहास जाग्रत होकर बोलता है। जुही और रजनीगंधा वहाँ नहीं तो क्या हुआ, दिल तो है, और दिल की दुनिया में प्रेम और यौवन सदा फूल बनकर खिलते हैं। सांगी का गीत

धरती गाती है

प्रेम और यौवन से ऊपर नहीं उठता, जैसे गाने योग्य केवलमात्र यही एक भूमि हो। यह अपना एक-एक शब्द श्रोतामण्डली पर प्रभावमय वातावरण फैलाता है, और जनता एक शरीर और सैकड़ों सिरों के साथ कोहरे में से झाँकती ऊषा का आवाहन करती है। सांगी का गीत समस्त लोक जीवन में गूँज उठता है :—

तेरा मारिया ऐसे रोऊँ जिसा भरता मोर बनी का
तेरे पाइयों माँ पायल बाजे जिसा बाजे बीज सणी का
थोड़ा सा नीर पला दै, प्यासा मरता दूर घणी का।

—‘तेरे सौन्दर्य से घायल होकर मैं बन के मोर की तरह रोता हूँ
पाजेब तेरे पैरों में ऐसे बजती है, जैसे सन के बीज मंकार करते हैं
अरी ओ थोड़ा सा जल पिला दो मुझे, दूर का पथिक हूँ मैं, प्यास से व्याकुल।’

संसार की बहुत सारी कविता किसी प्यास का गान है। पथिक की आवाज़ क्या यों ही हार कर रह जाती है ? यह घायल करने वाला सौंदर्य आखिर क्या अर्थ रखता है ? सन के बीजों की पायल पहने मुग्ध पनिहारी पथिक को क्या समझती होगी ? शायद वह स्वयं किसी प्यासे पथिक की प्रतीक्षा में थी। और सांगी का यह गान आदम और हब्बा का गान हो उठता है। उसकी उँगलियों में फुरती आ जाती है, और कंठ में बल और वेग ही नहीं आते, सृजना भी आती है। सौन्दर्य में इतनी हिलोर क्यों रहती है ? और यह स्वच्छन्द पुष्प कुएँ के समीप कब से खिलता आया है ? सौंदर्य हमेशा से ही एक नई दिशा क्यों बताता आया है ? पुरुष सदा से नारी को इसी रूप में देखता आया है। नारी कहती है—

में हरी-हरी दूब खड़ी सेओ !

—‘मैं तो यहां उगी हुई हरी दूब हूँ।’

लम्बा कथागीत सांगी का प्रिय सखा है। वह ‘सांग’ (स्वांग) कहलाता है। किसी समय यह गीत जीवित नाट्य-रूप लिये रहा होगा। जीवन-रस की कमी ने इसकी पहली शान बरकरार नहीं रहने दी। गीत-नाट्य में यदि जीवन के चिर-सत्य की प्रतिष्ठा न की जाय, तो वह अधिक नहीं जी पाता। जब लोक-जीवन में धरती-सी अटूट सादगी थी और गेहूँ की रोटी की-सी पुष्टि थी, सांगी दुनिया भर को अपने गीत में समेट लेने की शक्ति रखता था। लोक-जीवन की पूर्ण रूप-रेखा ही बस सांगी की दुनिया होती थी, यह बात नहीं; परी-देश का अंचल तथा देवताओं की कहानी का ताना-बाना भी सारंगी के तारों को छू जाते थे। एक दिन लास्या और ताण्डव दोनों ने ही इसे अपना-अपना स्पर्श प्रदान किया था। एक छोटा गीत ‘कड़ा’, भी लोकप्रिय हुआ है। रागनी, एक दूसरा छोटा गीत जिसका प्रत्येक भाग ‘कड़ी’ कहलाता है, जाट-गान का एक उज्ज्वल अङ्ग है। इन्द्रधनुष के सभी रंग इसके हिस्से आये हैं। नारी के गीत ने विभिन्न छन्द-प्रवाह धारण किये हैं। खेत

और घर-गृहस्थी की बहुमुखी कार्य-प्रणाली के पीछे जो एक ताल रहता है, उसीके उतार चढ़ाव के कई रूप उसके गीत की पृष्ठभूमि में समा गए हैं।

सांगी ने अनेक बार 'साँग' के अलावा दूसरे गान को अपनाया है। प्यासे पथिक का गीत सारंगी पे बहुत मेल खाता है—

जाट का मैं लाडला तिरखा लगी सरीर
अगन लगी बुझती नई, बिना पिये जल-नीर
बिना पिये जल नीर,—रास्ते में क्युँ चुनाया
किस पापी ने यै जुल्म कमाया, उसपै डोल ना पाया !

—'मैं जाट पिता का लाडला पुत्र हूँ, मुझे प्यास लगी है।

लगी आग पानी पिये बिना नहीं बुझती

पानी पिये बिना,—रास्ते में पक्का कुआँ बना है

किस पापी ने यह जुल्म किया कि इस पर डोल नहीं रखा ?'

प्यासे पथिक को फिर हम किसी अगले कुएँ पर पनिहारी युवती से पानी पीते देखते हैं—

थोड़ा-सा नीर पिला दै, बाकी घाल मेरे लोटे में
अरे तूँ भले घरों की दीखै, तन्ने जन्म लिया टोटे में
तू मेरी माथ होलेगै, दामन मढ़वा दिऊँ घोटै मैं !

—'थोड़ा सा जल मुझे पिला दो, बाकी डाल दो मेरे लोटे में

अरी ओ, तुम तो भले घर की दीखती हो; बड़े टोटे में तुमने जन्म लिया हो जैसे चलो, मेरे साथ हो लो, मैं तुम्हारे लहँगे को गोटे से मढ़वा दूँगा।'

न जाने वह मुग्धा पनिहारी उत्तर क्यों नहीं देती ? जल तो उसने पिला ही दिया होगा; पर क्या पथिक तृप्त हृदय से अपनी मंजिल पर चला होगा ? चलता-चलता भी वह एक और गीत गाता गया—

रूप तेरा चन्दा-सा खिल रिया, बे ने घड़ी बैठके ठाली
कर तावल वार भाजरी, जिसी दारू माँ आग लाग री
कलियाँदार घाघरी, पतली कमर लचकत चाली।

—'चाँद-सा तेरा रूप खिल रहा है, फुरसत में भगवान ने तुझे घड़ा होगा।

युवती भागकर दूर निकल गई, जैसे शराब में आग लग गई

कलीदार लहँगा पहने वह पतली कमर को लचका कर चली गई।'

पनघट पर घड़ों की भाँति ही न जाने कितने हृदय टूटे होंगे ! पनिहारी को लोक-गीत में एक चिरस्थायी स्थान मिला है।

धरती माती है

नारी को लोकगीत में इतना अधिक स्थान क्यों ? खेत की मेंढ पर बैठा किसान युवक अपनी प्रेयसी को झरने के पास का फूल दिखाता है । झरने हरियाने में नहीं होते, कल्पना के संसार में तो झरनों की कमी नहीं—

मैं बैठ्या खेत कै डोले पे
कित जासै सिखर दुपहरे नै ?
मेरी जान कालजा खटकै
मत जाइए जी, जी भटकै
लिये देख चार घड़ी डटके
खसबू आरई फूल भारे मैं ।

—‘मैं खेत की मेंढ पर बैठा हूँ
इस प्रखर दोपहरी में तू कड़ा जा रही है
प्रिय, मेरा हृदय धड़क रहा है
तू जा मत, मेरा जी भटकता है
खड़ी होकर चार घड़ी देखती जा
झरने के फूल की सुगन्ध फैल रही है ।’
ईख की निराई करती हुई कन्या के गान में स्वाभाविकता की हवा बहती है—

बहुत सताई ईखड़े रै तैने बहुत सताई रे
बालक छाड़े रोमते रै, तैने बहुत सताई रे
डालड़ी मैं छाड्या पीसना
और छाड़ी सलागड़ गाय
नगोड़े ईखड़े, तैने बहुत सताई रे
कातनी मैं छाड्या कातना
और छाड़सैं बाप और माय
नगोड़े ईखड़े तैने बहुत सताई रे
बहुत सताई ईखड़े रै, तैने बहुत सताई रे
बालक छाड़े रोमते रै, तैने बहुत सताई रे

—‘बहुत सताया है, ईख, तूने मुझे बहुत सताया है
पीछे घर में मैं बालकों को रोता छोड़कर आई हूँ, तूने मुझे बहुत सताया है
डलिया में अनाज पड़ा है,
दूध देती गाय को भी बिना दूधे ही छोड़ आई
निगोड़ी ईख तूने मुझे बहुत सताया है

कतनी में पूनियाँ भी बिना काते ही छोड़ आई
माता-पिता को छोड़ कर चली आई
बहुत सताया है ईश्वर, तूने मुझे बहुत सताया है ।
पीछे घर में बालकों को रोता छोड़कर आई हूँ, तूने मुझे बहुत सताया है ।'

श्रमिक जातियों की स्त्रियाँ और कन्याएँ प्रायः किसान के यहाँ निराई का काम करने आती हैं; पर इससे उन्हें हमेशा भरपेट मज़दूरी नहीं मिल पाती। किन्तु क्या कन्या का यह गान गरीबी की पुकार है? क्या यह ईश्वर के प्रति दुलार-भरा उलझना नहीं है, जो उसे घर की बन्द हवा से बाहर बुलाती है? इस मानवी प्रेम से शायद उसका हृदय सरस हो उठेगा, इसीसे शायद ईश्वर अधिक रसमय होकर उठेगा।

बाजरे की खेती में जुटा हुआ किसान बाजरे के दिल की बात बूझ लेता है। बाजरा क्या यों ही उगता है? यों ही पकता है? बाजरा खूब जानता है कि उसका जन्म किसान-कुलवधू को पुष्ट करने के लिए हुआ है। वह बड़ा अलबेला है। वह कहता है—

बाजरा कहे मैं बड़ा अलबेला
दो मूसल से लड्डूँ अकेला
जो तेरी नाजो खीचडा खाय
फूल-फाल कोठी हो जाय।

—'बाजरा कहता है, मैं बड़ा अलबेला हूँ
दो मूसलों से अकेला ही लड़ता हूँ
यदि तेरी कोमलांगी पत्नी मेरी खिचड़ी खाय
तो वह फूल-फाल कर अनाज की कोठी सरीखी नज़र आय।'

किसान-कुलवधू को बाजरे का यह कथन हमेशा याद रहता है। जुआर बेचारी क्यों कुछ नहीं बोली? शायद वह लजा गई। पर इससे क्या? किसान-कुलवधू जुआर को भी सदा से अपने संस्मरण में जगह देती आई है। बाजरा और जुआर दोनों पति-पत्नी हैं। एक जाट लोककथा में यह बात आई है—बाजरा एक शाहजादा था और जुआर के अमोघ सौन्दर्य पर रीम कर उसने उसे बाद में अपनी पटरानी बना लिया था और मरने के बाद वे खेत में साथ-साथ उगने लगे। आषाढ़ के अन्त में बाजरा और जुआर बोये जाते हैं। दोनों पर श्यामल मेघ एक साथ बरसते हैं। और खेत में किसान के लिए भोजन लाते समय नारी के हृदय में यह जान लेने की आकांक्षा उत्पन्न होती है कि बाजरा कहाँ बाँया गया है और जुआर के लिए कौनसी जगह चुनी गई है। शायद बाजरे के-से श्यामल किसान के लिए नारी का रूप जुआर कि तरह निखर उठना चाहता है, एकदम गौरवर्ण होकर, फूलकर—

कोई बरसन लागी काली बादली !
“डौलै तै डौले, हालीड़ा, मैं फिरी

मन्ने किते न पाया थारा खेत ।”
 बरसन लागी काली बादली !
 “कोई चार बुलदांका, हालीड़ा, नीरना
 दोए जणिण् की छाक !”
 बरसन लागी काली बादली !
 “कोई ऊँचै तै चढ़ कै, गोरी धन, देखे लियो
 म्हारे गोरे बुलद कै टाल ।”
 बरसन लागी काली बादली !
 “कितरज बोया, हालीड़ा, बाजरा?
 कोई कितरज बोई जवार ?”
 बरसन लागी काली बादली !
 “थलियां तै बोया, गोरी धन, बाजरा,
 कोई डेराँ बोई जवार ।”
 बरसन लागी काली बादली !

—“कोई काली बदली बरसने लगी है ।
 “अजी ओ किसान, मैं मेंढ़-मेंढ़ पर धूमी-फिरी,
 तुम्हारा खेत मुझे मिलने में ही नहीं आता ।”
 काली बदली, बरसने लगी है
 “चार बैलों के लिए तो मैं भूसा लाई हूँ,
 दो आदमियों के खाने लायक ‘छाक’ लाई हूँ ।”
 कोई काली बदली बरसने लगी है ।
 “गोरी धन, ज़रा किसी ऊँची मेंढ़ पर चढ़कर निहार लो ।
 मेरे गोरे बैल के गले में बड़ी घंटी भी तो बज रही है ।”
 काली बदली बरसने लगी है ।
 “अजी ओ किसान, किस तरफ तुमने बाजरा बोया है ?
 और कहाँ बोई गई है जुआर ?”
 काली बदली बरसने लगी है ।
 “गोरी धन, ऊपर के खेत में बाजरा बोया है,
 निचले खेत में जुआर बोई है ।”
 कोई काली बदली बरसने लगी है ।

यह क्या ? जुआर खेत में भी निचली भूमि में उगती है, बाजरा ऊपर के खेत में
 जा बिराजा है । अभी वे स्त्री-पुरुष की बात नहीं भूले । एक किसान ने मुझे बाजरे और

जुआर की मानव-जन्म की कथा सुनाते हुए बताया था कि जुआर स्वयं अपनी पुरानी संस्कृति को बनाए रखना चाहती है।

जब 'हरियाली तीज' का गान सावन की फुहार में भीगना चाहता है, कुलवधू अपने नैहर जाने के लिए लाजायित हो उठती है। कितनी पुरानी होगी यह हरियाली तीज ? सीता ने भी इसे मनाया होगा, दमयन्ती ने भी ! कितने सावन देखे होंगे नारी के इस त्योहार ने ! वृक्षों पर हिंडोले पड़ जाते हैं, दिन-दिन भर झूलते बीतता है। महार के स्वर हृदय में बस जाते हैं। कुलवधू की चुनरी और इन्द्रधनुष में होष लगती है। पर हरियाली तीज के गान में करुण-रस को भी स्थान मिलता है। हर एक कुलवधू नैहर नहीं जा पाती थी। 'सरिहल रानी' का गान शायद किसी लम्बे दुःखान्त काव्य का एक भग्नावशेषमात्र है। जरूर इसका कथानक बहुत लम्बा रहा होगा—

सामण आयो रंगलो कोई आई रे हरियाली तीज !
 सास म्हारी प्यारी, गजब की मारी,
 मोकै तौ खंडा दै पीहर को, म्हारी लाड सासुला, प्यारी !
 नई आया थारा नाई बामण, न माँ-जाया वीर,
 राजा की रानी, जहार की रानी,
 तो कै आइ ई घड़ा देऊँ पालणो,
 म्हारी लाड बहुरिया प्यारी !
 बिगर बुलाई धन जायगी घट जायगो आदर-भाव,
 राजा की रानी, जहारकी रानी,
 तू आइ ई सामण मान, मेरी लाड बहुरिया प्यारी !
 ऊँचै तौ चढ़कै देख रइ, तोकै दिवर कहूँ कै जेठ ?
 सुघड़ खाती कै, बगड़ खाती कै,
 चन्नण को घड़ लिया पालनो, जामें भूले सरिहल रानी ।
 अजी आठ खुराड़ा नौ जना, कोई दग-दग जायँ वन को
 राजा की रानी, जहार की रानी,
 ऊँची पाल तलायो की, जिते खड़रिया चन्नण को पेड़ ।
 खाती आता देख कें कोई रोया छाती पाड़
 बिरछ को पौदा, चन्नण को पौदा
 डाल-डाल म्हारी काट लै, रै मत काटे जड़ से पेड़ ।
 पहलो खुराड़ो मारियो, कोई निकसी दूध की धार ।
 राजा की रानी, जहार की रानी
 एकासे दूजो दियो, जासे निकसी सूना धार ।
 हरी-हरी चुरियाँ गोरी-गोरी बहियाँ, कुन पे कियो सिंगार ।

राजा की रानी, जहार की रानी,
थारो राजधन मर गयो, रै धरती माँ गयो समाय !

—‘रङ्ग-भरा सावन आ गया है, हरियाली तीज आ रही है
ओ मेरी प्यारी सास, ओ गज्जब की मारी सास !
मुझे नैहर भेज दो, ओ मेरी प्यारी लाडली सास !’
‘न कोई नाई या ब्राह्मण तुझे जिवाने आया है, न मां-जाया भाई
ओ राजा की रानी, ओ जहार की रानी !
तेरे लिए यहीं पालना घड़वा देती हूँ
ओ मेरी लाडली प्यारी कुलवधू !
बिना बुलाए जाने से तेरा आदर घट जायगा, ओ कुलवधू !
ओ राजा की रानी ओ जहार की रानी !
तू यहाँ ही सावन मान, ओ मेरी प्यारी लाडली कुलवधू !
मैं ऊँची अटारी पर चढ़कर देख रही हूँ, तुझे देवर कहूँ या जेठ ?
अजी ओ बड़ई के सुधड़ बेटे !
चन्दन का पालना घड़ लाओ जिसपर सरिहल रानी झूला झूले
नौ आदमी दें, उनके पास आठ कुल्हाड़े हैं, वेग से वन की ओर बढ़ रहे हैं
ओ राजा की रानी, ओ जहार की रानी !
तालाब की ऊँची पाल पर चन्दन का पेड़ खड़ा है ।
बड़ई आता देखकर चन्दन का पेड़ छाती फाड़ कर रो पड़ा ।
नन्हा वृक्ष, चन्दन का वृक्ष ।
‘मेरी एक-एक डाल काट लो, अरे मेरी जड़ को तो मत काटो ।’
पहला कुल्हाड़ा मारा, कोई दूध की धार निकली
ओ राजा की रानी, ओ जहार की रानी !
दूसरा कुल्हाड़ा मारने पर रक्त-धारा बह पड़ी ।
हरी-हरी चूड़ियाँ, गोरी-गोरी बाँहें, वयों यह सिंगार किया है
ओ राजा की रानी, ओ जहार की रानी !
तेरा राजधन मर गया, धरती में समा गया ।’

वृक्ष ने सोचा होगा, बड़ई ने मेरा प्रस्ताव मान लिया है, वह मेरी जड़ न काटेगा ।
इसीसे आनन्दित होकर उसका हृदय दूध बनकर प्रकट हुआ । पर वृक्ष को आन्ति हुई
थी । ठीक दूसरा ही बार उसकी जड़ पर किया गया । मरता-मरता वृक्ष शायद एक आभशाप
देता गया, उसी के फलस्वरूप सरिहल की हरी चूड़ियाँ टूट गईं; वृक्ष की भाँति ही उसका
पति भी बिन-आई मौत मर गया । और जब गश्ती गायक गाता है—

परदेसी आड़े से चलना, रे परदेसी !

—‘अरे परदेशी ! एक दिन यहाँ से चल देना होगा ।’

तो वह शायद चन्दन वृक्ष तथा जुहार का करुण अन्त भी स्मरण करा दिया करता है । मौत का करुण गान एक दिन समस्त जीवन पर छा कर रहेगा शायद । गायक के स्वर विलाप में डूब जाते हैं—

कोई तौ दिन हाँड़ लै गलिए !
मालिक मेरे ने बाग लुआया
खूब खिली कलिए ! कोई तौ दिन...
मौत-मलिन फिरै बाग मैं
हात लई डलिए ! कोई तौ दिन...
कचे पाकाँ की सैर नै जानी,
तोड़ रई कलिएँ ।

—‘जीवन की गलियों में कुछ दिन और बिता ले !

मालिक ने बाग लगाया है, कलियाँ खूब खिली हैं ।

हाथ में कई एक डलिया लिए मौत मालिन बनी डोलती है ।

वह खिली-अधखिली में भेद नहीं करती,

सब कलियाँ तोड़ने पर तुली है ।’

पहले एक छबीली घोड़ी को निहारिए, फिर जाट नारी को । आप दोनों में कुछ सादृश्य पायेंगे । इसकी पुष्टि भी कर दी है, और जाट नारी का क्रोध शेरनी की याद दिखाता है । वह तेज गहरे रंग पसन्द करती है । यही हाल उसकी भाषा का है । वह हठला कर चलना जानती है । लोकगीत ने उससे बहुत कुछ पाया है । सन् के बीजों से बनाई गई पाजेब और उससे आती हुई मंकार को तो लोकगीत के हृदय में आसन मिल ही चुका है । नारी-हृदय में कितनी प्रेरणा भरी है ! नारी के पुजारी एक कवि की बात हर किसान जानता है । पके शहद का-सा रङ्ग था कवि की प्रियतमा का । सदा वह उसी का गान करता और सदा यही कहता, “यदि अगले जन्म में अपना जून चुनने को मिलेगी, तो मैं पके शहद के रंग की एक मुग्धा बनना चाहूँगा ।”

हरियाने के एक गीत की धारा चौड़े पाटवाली है । नारी ने इसे प्रेरित किया है, इसमें स्वयं भाग लिया है । जाट कविता की कक्षार में ‘रागनी’ एक अलग ही व्यक्तित्व रखता है । जब भी गायक भावना-प्रधान भूमि में पांव रखता है और ‘रागनी’ छेड़ता है, नारी उसे सुन रही होती है । ‘रागनी’ के पीछे हमेशा एक करुण स्वर से आच्छादित एक गहरी भावुकता रहती है । ‘रागनी’ के स्वरों में मानव-प्रेम का छोरे सरल, मर्मी भगवत्-प्रेम की ओर झुकने जगता है । ओस की शीतलता और उषा की लाली रागनीकी पृष्ठभूमिको छू-छू जाती है ।

‘रागनी’ की स्वर-झहरी नाचती हुई चलती है, एक ज्योति जिये हुए । दिख का

भरती गान्ती है

बुझता हुआ दिया इसके स्पर्श से फूट जल उठता है। पहले-पहल किस कंठ ने इसका सर-गम रच दिया था ? यह प्रश्न मेरे हृदय में अभी उठ खड़ा हुआ था, जब मैं पहली बार इसके संसर्ग में आया। कइयों ने कहा, यह हरियाने की पुरानी विभूति है, इसका उद्गम कौन जान सकता है। कुछ बोले, इसकी जमीन ज़रूर पुरानी है, पर इसके वर्तमान रूप का काफ़ी श्रेय दीपचन्द को मिलना चाहिए। बहुतों ने कहा, पहले-पहल दीपचन्द के कंठ में ही इसका जन्म हुआ था। जैसे मधु चाटते समय हमें मधुमक्खी और फूल की याद आ जाती है, रागनी सुनते समय दीपचन्द को स्मरण कर लेना चाहिए।

दीपचन्द का घर रोहतक जिले के अन्तर्गत सेरीखण्ड गाँव में था। उसने कवि का हृदय पाया था। वह गायक भी अच्छा था, और अपनी पारिवारिक ब्राह्मणवृत्ति की ओर न झुककर उसने जनताका गायक बनना ही पसन्द किया था। जब यूरोपका युद्ध शुरू हुआ, दीपचन्द हरियाने का प्रमुख गायक था। उसका गीत सदा ठीक जगह पर जाकर बैठता था। और जब वह एक ख़ास शान से सिर उठा कर गान आरम्भ करता था, ऐसा लगता था जैसे किसी शिल्पी ने पीतल के एक बड़े टुकड़े को सुन्दरतापूर्वक छैनी से छीलकर उसके सिर और मुख की रचना की हो। सरकार ने उसे भरती के कार्य में ले लिया, और जाट युवकों को युद्ध में जाने के लिए उसका गान कभी बेअसर न रहा। गायक दीपचन्द को अपनी सेवाओं के पुरस्कार में सरकार से बहुत-सा धन मिला था। हरियाने की जनता का तो कहना है कि हर रङ्गरूट के पीछे तीन रुपये मिले थे और कुल लगभग एक लाख रुपये उसे मिले थे। सरकार ने उसे काफी भूमि दी थी और रायसाहब की उपाधि भी। जब दीपचन्द की मृत्यु हुई, वृद्धावस्था कभी की आ चुकी थी।

दीपचन्द के प्रथमतम भरती-गान को अभी हरियाना भूला नहीं—

भरती हो लैरे थारे बाहर खड़े रंगरूट !
याँ ऐसा रखते मध्यम बाना
मिलता पटिया पुराना ;
वाँ मिलते हैं फुलबूट ।
भरती हो लैरे थारे बाहर खड़े रंगरूट !

—‘अजी ओ आओ, फौज में भरती हो जाओ ।

तुम्हारे द्वार पर रंगरूट खड़े हैं, देखो तो ।

यहाँ कुछ ऐसा ही मैला वेश रहता है,

पहनने को फटे-पुराने वस्त्र ही तो मिलते हैं न ।

पर वहाँ (नवीन वस्त्रों के साथ ही) फुलबूट मिलते हैं ।’

गीत को आगे भी बढ़ाया गया था। ‘फुलबूट’ के साथ बिस्कुट का तुकान्त मिलाकर एक और प्रलोभन यह पेश किया गया था कि यहाँ ग्राम्य जीवन में चने चबाने को मिलते हैं और वहाँ फौजी जीवन में सिपाही बिस्कुट का आनन्द लेता है। अंग्रेज़ी शब्द ‘रिस्कूट’

का देशी रूप रङ्गरूट हरियाने की भाषा का अपना शब्द बन गया था। गीत में किसी विशेष युवक को सम्बोधन नहीं किया गया था। पर जिसने भी इसे सुना, वही समझा कि उसे ही बुलाया जा रहा है, और ऋट उसने अपने को रङ्गरूट मण्डली में शामिल पाया।

एक दूसरे भरती-गान में जाट कुलवधू ने अपने युवक पति को सम्बोधन किया था—

पिया, भरती मैं हो लै ने,
पट जा छत्तरीपन का तोल !
जरमन मैं जाकर लड़िए,
अपने माँ-बाप का नां करिए।
ओ तोपों के आगें उड़िए,
अपनी छाती मैं दे खोल।
पिया, भरती मैं हो लै ने,
पट जा छत्तरीपन का तोल !

—'फौज में भरती हो जाओ, प्रियतम !

मुझे तुम्हारे छत्तरीपन का तोल मिलना चाहिए।

जाओ जर्मनों से लड़ो।

अपने पूर्वजों का नाम उज्ज्वल करो।

जाओ तोपों के सन्मुख जाकर अड़ जाओ।

अपनी छाती खुली कर लेना !

फौज में भरती हो जाओ, प्रियतम !'

बहुत भरती हुई। युद्ध शुरू हो ही चुका था। कई वर्ष तक जाट सिपाहियों की पलटनें जुटी रहीं। कितने ही जाट युवक वीरतापूर्वक लड़े। बहुत से मृत्यु का शिकार भी हुए। छे भम्बर की पलटन के बहुत से जाट सिपाही फिर युद्धभूमि से वापिस न लौटे; सैकड़ों जाट स्त्रियां विधवा बन गईं। दीपचन्द ने अपने एक गान में इस ओर संकेत किया था—

जरमन नैं गोला मारिया,
जा फूट्या, था अम्बर मैं।
गारद सैं सिपाही भाजै
रोटी छोड़ गये लंगर मैं।
अरे उन तिरिऊन का जीबै,
जिनके बालम छे नम्बर मैं।

—'जर्मन ने गोला मारा,

आकाश में जाकर यह गोला फटा।

लंगर में रोटी खाते सिपाही रोटी छोड़कर भागे।

घरती गाती है

अरे इन स्त्रियों में से किन-किन के पति जीते बचेंगे ।

जिनके पति छे नम्बर की पलटन के सिपाही हैं ।'

और फिर विधवा स्त्रियों ने स्वयंजिस गानकी रचनाकी, यह एक अभिशाप ही तो था—

जरमन तेरा जाइयो राज ,

आज ना तड़कै !

तन्ने मारे विराने लाल

जहाज भर-भर के !

मैं किसपर करूँ सिंगार ,

कालजा धड़के !

—'अरे जर्मन, तेरा राज चला जाय,

आज या कल सुबह ।

अरे तूने बेगाने लाल मार डाले

वे हमारे पति जो जहाजों में भर-भर कर फौज में ले जाये गये थे ।

हाय ! मैं शृंगार करूँ तो कैसे ?

मेरा हृदय धड़क रहा है !'

दीपचन्द की कितनी ही रचनाएं लोकगीत में समा गई हैं । घरती गायक उन्हें बड़े चाव से गाता है । रोहतक के समीप एक गांव में मैंने एक सिपाही और उसकी पत्नी का गान सुना था । पत्नी ने भरती होने के लिए जा रहे पति को सम्बोधन किया था—

मैं हूर परी बाँगर की, मन्ने फली खा लई सांगर की !

मेरी के बूभे भरतार !

महने छोड़ न जइए, अपना कपटी दिल समझइए

ओ भर, बुरा बनियाँ से पियार ।

—'मैं बाँगर की हूर हूँ, एकदम परी सरीखी !

सांगर की फलियाँ खाकर मैं पत्नी हूँ ।

प्रियतम, आखिर मुझे क्या समझते हो तुम ?

मुझे छोड़कर न जाओ, इस कपटी दिलको समझा लो ।

तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम वेग में आ रहा है ।'

पति न माना, वह भरती जा हुआ । पत्नी ने मद का वेष धारण किया । उसी पलटन में वह भी भरती जा हुई । अब पति उसे चुपके से घर चले जाने के लिए समझाता था—

मोरे क्यों मेरेसे भूल,

रुप खिल दिया सरसों का फूल

क्यों बोलेसे बात दरद की ।
मेरे चुभसे एणी रे करद की,
मालुम पट जा वीर मरद की,
पा पीटें हवालात में ।

—‘भूल क्यों कर रही हो ?

तेरा रूप सरसों के फूल के समान खिल रहा है ।

दरद की बात क्यों बोलती है तू ?

यदि तुरू वीर मरद का भेद खुल गया,

हवालात में बन्द कर देंगे तुम्हें, कितना पीटेंगे वे !’

कथानकके अनुसार पत्नी ने जब यह वादा ले लिया कि पति भी बादमें नाम कटाकर घर लौट आयागा, वह वापस चली गई । गरती गायक के कंठ में कितनी मृदुलता भरी रहती है । और मैंने देखा कि इस गायकमें संगीत के प्रति एक विशेष रुचि थी, जो कितने ही गायकों में कामचलाऊ प्रवृत्ति तक आकर ही ठहर जाती है । तभी इस गायक की आँखें, जो साधारणतया रूखी-सी थीं, ग्रामकी इस मदफिल की पूर्णाहृति के समग्र चमकने लगी थीं ।

फौज से पेन्शन पाने के बाद जाट सिपाही प्रायः अपने ग्राममें लौट आता है । उसकी रुचि किसी कदर बढ़ल चुकी होती है । कई नये शब्द भी वह अपने साथ लाता है । शायद अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति उसकी आस्था भी हिल चुकी होती है । वह शायद स्वयं लोकगीतको अपने कंठमें स्थान नहीं देता; पर जब ग्रामकी आत्मा लोकगीतसे स्पन्दित होती है, इसके स्वर स्वयं पेन्शनयाफता सिपाही को फिर से अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं ।

हरियाने का लोकगीत एक जिन्दा विभूति है । इस की ज़मीन ज़रखेज़ है । उसे अपना पुराना वैभव याद है, नई कमाई करने की सोच भी है । जाट की कल्पना में, उसकी भावनाओं में, उसके अद्भुत में, उसकी तटस्थता में, उसके सुख-दुःख की सामग्री में अब भी सृजन शक्ति है । आज का जाट लोकगीत एक स्पष्ट रेखाचित्र बन जाना चाहता है । पर नूतनता का प्रलोभन जब गायक को अपनी जड़ें अपनी धरती में खूब गहरी ले जाने से विमुख कर देता है, लोकगीत का भविष्य खतरे में पड़ जाता है । और एक बात और भी तो है, आज का गायक जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह ठेठ लोक भाषा से परे हो चली है ।

हथर बूढ़े बैल का गीत लोकप्रिय होने जा रहा है । बूढ़ा बैल रोकर कह रहा है—

अरे निऊँ रौवै बूढ़ बैल,
म्हने मत बेचै रै पापी ।
तेरे कुल कोल्हू में चाव्या

नाज कमा कै तेरे घरां घाल्या
इब तन्ने कर ली है बज्जर की छाती ।
तेरा बज्जड़ खेत मन्ने तोड्या,
गडीते न मुँह मोड्या,
इब मेरी बेचै से मांटी ।
मेरी रे क्यों बेचै से माटी ?
अरे निऊँ रौवै वूढ़ बैल ।

—‘अरे पापी, मुझे बेच मत ।

मैं तेरे हल में जुतता आया हूँ और कोरूहू में भी ।

कितना अनाज कमाकर

मैंने तेरे घर में डाल दिया है ।

अब तूने अपना हृयय पाषाण का बना लिया है ।

मैंने तेरा किसी कदर बंजर खेत भी उपजाऊ बना डाला,

छकड़े में जुतने से भी मैंने कभी मुँह न मोड़ा

और अब तू मेरी मिट्टी—मेरी यह वृद्ध देह—बेचने जा रहा है ?

अजी ओ किसान, मुझे क्यों बेच रहे हो ?’

यह गीत अभी विकास के पथ पर है। इसी भाव का इससे बहुत कुछ मिलता जुलता गीत पंजाबी में भी बना है। शायद आगे चलकर बैल का गीत एक आदर्श गीत बन जाय। इसी सिलसिले में एक गाय का गीत भी बन गया है—

निऊँ कह रही धौली गाय, मेरी कोई सुनता नई ।

मेरे कित गये सिरी भगवान, मैं दुःख पाय रई ।

मेरा दूध पीवे संसार, घी से खांय खिचड़ी,

मेरे पूत कमावें नाज मैंघे भा की रई ।

मेरी दहीए सुखी संसार, जब भी मेरे गल पै छुरी !

—‘धौली गाय कह रही है, मेरी कोई नहीं सुनता ।

कहाँ गया वह मेरा गोपाल—मेरा भगवान ? मैं दुःख पा रही हूँ ।

संसार मेरा दूध पीता है, घी से खिचड़ी खाता है ।

मेरे पुत्र अनाज कमाते हैं, मँहँगे भाव की रई भी,

मेरे दूध का बना दही खा कर संसार सुखी हो रहा है,

तो भी मेरे गले पर छुरी चलती है ।’

शायद इस गीत की रचना में किसी गोशाला के गवैये का हाथ हो। अभी यह कुठाली में ही गल रहा है, आगे चलकर इसका रूप स्थिर होगा। भाषा भी बहुत-कुछ हिन्दी के पीछे चली है।

एक नवीन गान में किसान स्त्री ने अपने पति को कपास बोने से रोका है—

मेरा कैहा मान पिया, बाड़ी मत बोइए ;
सर पड़ेगी उघाई तेरे डंडा बाजै जाई,
पिया, बाड़ी मत बोइए ।

—‘प्रियतम मेरी बात मान लो, कपास मत बोओ ।

आबियाना सर चढ़ जायगा, डंडे अलग खाओगे ।

प्रियतम, कपास मत बोओ ।’

गरीबी का गान तो है ही बिलकुल नवीन रङ्ग लिये हुए—

अरै मैं बुरी कंगाली धन बिन कीसी रै मरोड़ ?
भोगा, बुरी रै कंगाली, धन बिन कीसी रै मरोड़ !
धनवन्त घरां आणके कह जा
निरधन ऊँची नीची सब सह जा
सरपर बंधा बंधाया रह जा
माथेपर का रै मोड़ ।
अरे यै बुरी कंगाली, धन बिन कीसी रै मरोड़ !
निरधन सारी उमर दुःख पावे
भूखा नंगा रहके हल बाहवे
भोगा, बिना घी का चूरमा
तेरी रहला कमर तै रै तोड़ ।
अरै यै बुरी कंगाली, धन बिन कीसी रै मरोड़ !

—‘बुरी है यह गरीबी, धन बिना कैसा नखरा ?

धनी गरीब के घर आकर जो चाहे कह जाय ।

गरीब उसकी ऊँची-नीची बात सह जाता है ।

धन बिना सर पर बंधा सेहरा भी व्यर्थ चला जाता है ।

गरीब उमर भर दुख पाता है ।

भूखा नंगा रह कर हल जोतता है ।

अरे ओ भोगा, यह बिना घी की चूरी

जो कपड़े में बाँधकर तूने पीछे लटका रखी है,

व्यर्थ तेरी कमर का भार ही तो है ना ।’

वर्तमान जाट-गीत किसी दीपचन्द की प्रतीक्षा में है ।

हरियाना जनपद के लोकगीतों ने जाट-जीवन के अनुरूप ही खूब गरमी-सरदी केली है। वे सदैव प्रगति-पथ पर अग्रसर रहे हैं। परम्परा का बन्धन तो है ही, पर जीवन का मुक्त वातावरण भी तो है ।



गुजराती लोकगीत

: १ :

गुजराती लोकगीत के अध्ययन में पथप्रदर्शक का कार्य स्व० रणजीतराय मेहता ने किया था। आगे चलकर श्री जवेरचन्द्र मेघाणीने इस क्षेत्रमें अभिनन्दनीय परिश्रम किया। “बुन्दशी” और ‘रदियाली रात’ में मेघाणी जी ने जिस लोकगीत से साहित्य जगत का परिचय कराया है वह क्या कम सजीव है? काठियावाड़ में, जहाँ मेघाणी जी का जन्म हुआ, लोकगीत की असीम सामग्री फैली पड़ी है; इसे मेघाणीजी ने अपने सँग्रह में प्रमुख स्थान दिया। कुछ समय से मेघाणी जी ज़रा उदासीन हो रहे हैं। इधर श्री गोकुलदास रायपुरा ने इस दिशा में उत्साह पाया है।

“कला—एक जीवन” के उपसंहार में श्री काका कालेलकर ने लिखा है—“इस विस्तार के साथ किये हुए विवेचन को एक तरफ रख कर, अगर मैंने गुजरात की भूमि और उसके तालाबों का, उसकी नदियों और घाटों का, और उनपर बंधे हुए पुलों का, तालाब के किनारे के वृक्षों और उनकी छाया में बैठकर पागुर करते हुए पशुओं के झुंडों का, खादीधारी बगुलों और पूँछ फैलाकर नाचते हुए मोरों का, इसके समुद्र के कई तरह के किनारों और उन में बसे हुए टापुओं का, मान्य मेहमानों की तरह सोहती हुई पहाड़ियों और कगारों पर से कूदने वाले जल-प्रपातों का, खाइयों और गुफाओं का—

इन सबका

कय होता, तो इयादा अच्छा होता।... गुजरात की जनता, उसका स्वभाव, उसका पहनावा, और उसके रीति-रिवाज, उसके उत्सव और यात्राएँ, लोक-कथायें और लोकगीत, धार्मिक सम्प्रदायों और जाति-विरादरियों के आदर्श, उसकी तपो-भूमियाँ और उसके जहाज़ी व्यापार—इन सबका मर्म समझ कर, इनके अन्दर समाए हुए कला-बीज का वर्णन किया होता, तो गुजरात के लिए यह उपयोगी साबित होता। मगर इस प्रान्त में २० वर्ष तक रहने पर भी, मैं सब जगह घूम नहीं सका और इस सब रूप में दिखने वाली कला का रहस्य प्रकट करने की शक्ति मुझमें नहीं है। मुझे तो इतना विरवास रखकर ही सन्तोष मान लेना है कि इस काम को भविष्य का कोई कलात्मा जरूर पूरा करेगा। जब यह काम होगा, तब गुजरात की अपनी कला का नया अवतार होगा।” लोक-जीवन में फिर से प्राण डालने की आवश्यकता बतलाते हुए श्री काका कालेलकर ने फिर लिखा है—“गुजरात लोक-सङ्गीत दूसरे प्रान्तों के लोक-सङ्गीत से जुदा है। उसमें असाधारण भाव-व्यञ्जकता है। जिस वक्त कवि मेघाणी-जैसे अपने मेघगम्भीर कण्ठ से इन गीतों को गाते हैं, तब इस बात का सहज ही खयाल आजाता है कि हमारा पुराना लोक-जीवन कितना प्रबल और पौरुषपूर्ण रहा होगा। लोक-काव्य, लोक-कथा और लोक-सङ्गीत द्वारा गुजरात के लोक-जीवन को फिर से सजीव बनाने की आवश्यकता है। सभ्य जीवन और लोक-जीवन एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे के पोषक हैं। शिष्ट-जीवन सदा प्रतिष्ठित होता है। लोक-जीवन को अब प्रतिष्ठित बनाना आवश्यक है। शर्त यही है कि उसे उतनी ही प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, जिससे कि उसकी स्वाभाविकता और लौकिकता नष्ट न हो।”

: २ :

गुजराती लोकगीत का अध्ययन करते समय बार-बार मुझे ऐसा लगा है, जैसे वह एकदम परिचित वस्तु है, जैसे उसका गान पहले कई बार सुना हो। पञ्जाबी लोकगीतसे इसका नज़दीकी रिश्ता जान पड़ता है; राजस्थानी गीत ने गुजरात और पञ्जाब की लोक-कविता के बीच एक पुल तैयार कर दिया है। राजस्थानी और गुजराती तो स्थान-स्थान पर गले मिलते हैं—भाषा की दृष्टि से भी, और गीत-सामग्री की दृष्टि से भी। पञ्जाबी गीत दूर से गुजराती गीत की ओर निहारता है—एक चिर-सखा की भाँति। एक गुजराती गीत में एक ग्राम्य महिला अपने देवर की लाई हुई मेंहदी से हाथ रंगने से इन्कार कर देती है। उसका पति घर पर नहीं है। वह देवर से अपने पति को पत्र लिखवाती है। पत्र में पहला बहाना यह लिखवाती है कि घर पर उसकी ननद का विवाह होने जा रहा है। पति उत्तर में लिखता है कि बहन को मुंहमांगा दहेज देकर विदा करना। दूसरा बहाना स्वयं देवर के विवाह के रूप में लिखकर भेजा जाता है। पति लिखता है कि खासी बारात लेकर ब्याहने जाना। फिर सास की मृत्यु की सूझी खबर भिजवाई जाती है। पति फिर भी नहीं आता और उत्तर में लिखता है कि अच्छा ही हुआ, पर उसे बेरी की लकड़ी से जलाना। अन्त में वह महिला अपनी आँख दुखने की खबर भिजवाती है। इस पर पति महोदय, जो सेनापति के

धरती माती है

पद पर नियुक्त हैं, सिपाहियों को खेमा उठाकर देश की ओर लौटने का हुक्म देते हैं। हू-ब-हू यही कथानक मेंहदी-सम्बन्धी भूमिका को छोड़कर एक पञ्जाबी गीत में मौजूद है, वज्र-मण्डल तथा बुन्देलखण्ड से भी मैंने वहाँ की भाषाओं में इस भाव के एकदम मिलते-जुलते गीत ढूँढ लिये हैं—इनमें कथानक को लम्बा किया गया है, और हम सेना से लौटे हुए पति को पत्नी को सजा देने की बात सोचते पाते हैं; पत्नी का कसूर प्रत्यक्ष है, उसने झूठा बहाना करके पति को सेना से बुला लिया। “कुअबली रे” शीर्षक गुजराती गीत एक राजस्थानी गीत का, जो “संदेसा” कहलाता है, सहोदर है; ‘कुअबली रे सन्देसो अमारो जाई बाबलम ने केजो जी रे’ गुजराती गीत की यह पंक्ति “उबती कुंजबियां संदेसो म्हारो पिवने दे जो रे” के रूप में राजस्थानी गीत में विद्यमान है; गुजरात और राजस्थान की स्त्री ने समान रूप से कुअ (कौंच) पक्षी से प्रार्थना की है कि वह उसका सन्देश उसके पति तक ले जाय, कुअ का उत्तर भी बड़ा भावपूर्ण है—‘मैं तो पक्षी हूँ, मनुष्य होता, तो मुख से बोलकर संदेश कहता, हाँ, मेरे पक्षों पर भले ही यह संदेश लिख दो।’ राजस्थान की “जसमा ओडणी” और गुजरात की “रङ्ग भीलड़ी” का कथानक भी एक ही है।

राजस्थान में से होता हुआ एक दिन गुजराती लोकगीत वृन्दावन की बावली के समीप चला आया था; बावली से कोरी गगरी में जल भरती युवती को कवि ने स्वयं देखा था; या शायद यह वर्णन गुजराती लोकगीत की रूढ़ि-मात्र हो। पर यह युवती पनिहारी न राधा है, न कोई अन्य गोपी, वह तो सीता है। जीवन के अचेतन स्तरों से एक आवाज़ उठ खड़ी हुई थी, जो बाद में गीत बन गई—

राम लखमण बे बन्धवा, रामैया राम,
बे भाई चाल्या शिकार रे, रामैया राम।
राम ने तरस्युं लागीयुं, रामैया राम,
'लखमण वीर पानीड़ां पाव रे !' रामैया राम।
भाड़े चढ़ी जलजोई बल्या, रामैया राम,
क्यांय न दीठुं अमृत नीर रे, रामैया राम।
खेतर बच्चे खरखरड़ी, रामैया राम,
छेटेथी तबक्यां छे नीर रे, रामैया राम।
बनरा ते वन मां वाबडली, रामैया राम,
पाणी भरे बाल कुंवार रे, रामैया राम।
कोरी गागर जले भरी, रामैया राम,
सीता नार्य पाणीड़ानी हार्य रे, रामैया राम।
भरियो घड़ो राम पीवल्या, रामैया राम,
पाणी पीने पूछ्यां घरवार रे, रामैया राम।
कोण ज केरी बेटड़ी, रामैया राम,

‘परणी छो के बाल कुंवार रे ?’ रामैया राम
 ‘जनरख के री बेटड़ी, रामैया राम,
 नथी परण्यां नथी पहर्यां’, रामैया राम ।
 वन नी “चोरी” चीतरी, रामैया राम,
 धरती ना कीधा बाजोरु रे, रामैया राम ।
 आभ नो नाख्यो मांडवो, रामैया राम,
 बीजली नी कोधी वरमाल रे, रामैया राम ।
 नव लख तारा जोईरिया,
 परणे सीता ने श्रीराम रे, रामैया राम ।
 ‘परथम जोजन मागी ल्यो’, रामैया राम,
 माग्यां छे कांई धरता ने आभ रे, रामैया राम ।
 धरती मां धन नीपजे, रामैया राम,
 आभ मां थी बरसै छे मेघ रे रामैया राम ।
 ‘बीजु’ जोजन मागी ल्यो’, रामैया राम,
 माग्यां छे कांई मा ने वली बाप रे, रामैया राम ।
 बापे लाड लडावीयां, रामैया राम,
 माता नां धावेल अमरत थान रे, रामैया राम ।
 ‘त्रीजु’ जोजन मागी ल्यो’, रामैया राम,
 माग्यां छे कांई भाईने भौजाई रे, रामैया राम ।
 ‘चोथु’ जोजन मागी ल्यो’, रामैया राम,
 माग्यां छे कोई घोड़ी ने वली गाय रे, रामैया राम ।
 गाय नो जायो हल खेड़े, रामैया राम,
 घोड़ी जायो जूके रणला मोत्र रे, रामैया राम ।

—‘राम और लक्ष्मण दो भाई हैं, दोनों शिकार खेलने चले हैं;
 राम को प्यास लग आई, ‘भ्राता लक्ष्मण ! पानी पिलाओ ।’—वे बोले ।
 वृक्ष पर चढ़कर लक्ष्मण ने निगाह दौड़ाई,
 कहीं भी उसे ‘अमृत नीर’ नज़र न आया ।
 खेत के बीच एक धारा बह रही है,
 दूर से जल चमक रहा है ।
 वृन्दावन में एक बावली है,
 उसपर एक बाल कुंवरी पानी भर रही है ।
 अपनी कोरी गागर उसने जल से भर ली है,
 पनिहारियों के समेत सीता जल भरने आई है ।

धरती गाती है

घड़े का समस्त जल राम पी गए,
जल पीकर उन्होंने पनिहारी का घर-बार पूछा—
“तुम किसकी पुत्री हो ?
विवाह हो गया या अभी कुँआरी ही हो ?”
“मैं जनक की पुत्री हूँ, न विवाहिता हूँ, न पति द्वारा परिश्यक्ता;
मैं बाल कुंवरी हूँ ।”
समस्त बन को हवन-कुण्ड के रूप में चित्रित कर लिया गया,
धरती की ‘बाजोठ’ (घर की चौकी) बना ली गई,
आकाश मानो मण्डप गाढ़ लिया गया,
दामिनी की वरमाला बना ली गई,
नौ लाख तारे निहार रहे हैं—
श्री राम सीता को व्याह रहे हैं ।
“प्रथम वरदान मांग लो”—राम ने कहा;
सीता ने धरती और आकाश मांग लिए, (और बोली)—
“धरती में अन्न उपजता है,
आकाश से बादल बरसते हैं ।”
“दूसरा वरदान मांग लो”—राम ने कहा;
सीता ने माता मांग ली, साथ ही पिता मांग लिया, (और बोली)—
“पिता ने मुझे लाड़ लड़ाया है,
माता की छाती का मैंने अमृत पिया है ।”
“तीसरा वरदान मांग लो” राम ने कहा;
सीता ने भाई और भावज मांग लिए ।
“चौथा वरदान मांग लो”—राम ने कहा;
सीता ने घोड़ी मांग ली, साथ ही गाय मांग ली, (और बोली)—
“गाय का पुत्र हल चलाता है,
और घोड़ी का पुत्र रणभूमि में जूझ जाता है ।”

मेघाणी जी ने इस गीत का शीर्षक “राम सीता नो विवाह”—राम सीता का विवाह—रखा है । युग-युगान्तर से राम और सीता के नाम भारतीय लोकगीत में अभिनन्दित होते आ रहे हैं; प्रान्त-प्रान्त में इस अंश के गीत मौजूद हैं । राम और सीता के नाम पहले-पहल कब रूढ़ि के रूप में परिणत होने लगे थे, यह बताना सहज नहीं । विवाह गान में वर योंही राम बन गया है; वधू को सीता की पदवी मिल गई है । और विवाह-गान में ही राम और सीता को स्थान मिला हो, यह बात नहीं । लोकगीत के विभिन्न विभागों में ये नाम बार-बार आये हैं ।

धरती जाती है

एक गीत में हम राम को 'राय करमलड़ी' की शाखा झुकाते देखते हैं। सीता फूल चुनती है और टोकरी में भरती जाती है। फिर मालिन वहां आकर एक हार गूँथती है। सीता इस हार को लेकर अपने माथे पर लगाती है। बच्चे हुए फूलों को लेकर मालिन एक दूसरा हार तैयार करती है। इससे राम अपने सिर का शृङ्गार करते हैं। राम का यह रूप शायद सीता के मन में बस जाता है; वह यह हठ करती है कि उसका विवाह राम से हो जाय, वरना वह उमर भर कुंवारी रह कर तपस्या का जीवन बितायगी। रामायण के राम अनुष-बाण तोड़कर—सीता-स्वयंवर की शर्त पूरी करने पर—सीता को पाते हैं; लोकगीत के राम पर स्वयं सीता रीझ जाती है, 'राय करमलड़ी' के फूल राम के सौंदर्य को कितना आकर्षित बना देते हैं !

शिव और पार्वती ने भी लोकगीत की दुनिया में बार-बार अवतार लिया है। मूल पौराणिक कथानक से थोड़ी दूरी पर—लोक-जीवन में अलग ही चित्र अंकित किये गए हैं। लोकगीत की प्रथा में इन चित्रों ने मौलिक विकास पाया है; इनकी रेखाओं को प्राचीनता का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। एक गीत बहुत लोकप्रिय हुआ है। शिव के लिए मूल गीत में 'ईश्वर' शब्द आया है—

दुधे ते भरी रे तलावड़ी,
मोतीड़े बांधी पाल;
ईश्वर धोवे धोतिया,
पार्वती पाणी नी हार ।
'हलवा ते धोजो, ईश्वर, धोतिया,
छंटाशे मारां चीर,
अम घर दादोजी रीसाल्वा,
माता मारी देशे गाल् ।'
'नहिं तेरो दादोजी रीसाल्वा,
नहिं दे रे माता तारी गाल्,
आपन बेय मड़ी परणशुं,
बैसाख महिना माह ।'

—'दूधसे भरा हुआ तालाब है,
उसकी मेंढ मोतियों से बांधी गई है;
शिव धोती धो रहे हैं,
पार्वती पानी भरने आई हैं ।
'अजी ओ शिव, धीरे-धीरे अपनी धोती धोओ,
मेरी चुनरी पर छींटे पड़ रहे हैं,
घर में मेरे दादाजी बड़े क्रोधी हैं,

धरती माती है _____

मां अलग गाली देगी मुझे ।'

'न तेरे दादाजी क्रोधी हैं,

न तेरी मां तुझे गाली देगी ।

हम दोनों मिलकर विवाह कर लेंगे

बैसाख मास (आ जाय जरा) ।'

बैसाख मास विवाह-सूत्रमें बंधने के लिए शुभ माना जाता है। लोकगीत की भी अपनी एक निष्ठा है। पार्वती गुजरातकी ग्राम्य कन्या बन गई है, शिव उससे विवाह कर लेंगे। यह सूचना स्वयं शिवके मुंहसे सुनकर, और वह भी उसकी चुनरी पर शिवकी धोतीके छुंटे पड़ जाने के परचाह, न जाने उसके मन में क्या भाव उठ खड़े हुए होंगे ! शायद लज्जाकर उसने आँखें मुका ली हों। तभी गीत आगे नहीं बढ़ा ।

गुजराती लोकगीतमें केवड़ा पुष्पको प्रचुर स्थान मिला है। कुर्प के समीप न जाने यह कबसे खिलता आया है ? वियोगिन पनिहारी का केवड़ा जल न पाकर मुरझाने लगता है। कहीं-कहीं नायिका कह उठी है—

“मारी नधरङ्गी बाड़ी मां

केवड़ो महकियो रे लोल !

ठाकुर केवड़ो लेता जायो

के आगलु नहिं मले रे लोल !

—‘मेरी नधरङ्ग फुलवाणी में केवड़ा महक रहा है,

अजी ओ ठाकुर, यह केवड़ा पुष्प लेते जाओ जरा,

आगे कहीं यह न मिलेगा तुम्हें ।’

एक दूसरे गीतमें सीता राम से एक सफेद फूल मांगती हैं। शायद सीता की दृष्टि में भी केवड़े का सौन्दर्य समा गया है।

चम्पा पुष्प भी पीछे नहीं रहा। इसे मां ने अपनाया है। कन्याकी तुलना मां ने प्रायः चम्पा से की है। एक विवाह-गान में मां ने अपना करुण हृदय दिखाया है—

में तो हरखे चांपलीयो रोपानीयो रे !

मारो उछेरतां भव जाय,

फुलड़ा बेलाये माली लई गया रे !

में तो हरखे ने लाडवई मोटां कर्यां रे !

मारो उछेरतां भव जाय,

काम नी बेलाये जमाई लई गया रे !

—‘खुशी से मैंने चम्पा रोपाया था ।

उसे पालते-पोसते कितना समय बीत गया,

पुष्प निकलने का समय आया तो माली उसे उठा ले गया,

खुशी से मैंने लाइली कन्या हृष्टपुष्ट की
उसे पालते-पोसते कितना समय बीत गया
जब वह कार्य करने लायक हुई तो जमाई उसे ले गया ।'

: ३ :

पारिवारिक जीवन का समस्त दुःख-सुख लोकगीत की वस्तु बन गया है। आनन्द की घड़ियों में गरीब पनिहारिन भी सोने की ईँदरी का गान करती है; अपने मिट्टी के घड़े को भी चाँदी का घड़ा बताने में सझोच नहीं करती। यहां यह बात जरूर समझ लेनी चाहिए कि आनन्द के इस गान में रुढ़ि का रङ्ग अवश्य आ गया है। एक स्थान पर हम देखते हैं कि बेचारी पनिहारिन का घड़ा गिरकर टूट गया है, इस कपूर में बेचारी कोघर पर बहुत बुरी तरह पीटा जाता है। बाँझ स्त्री की कहुण-कथा भी लोकगीत में समा गई है। जोगी का भेस बनाकर रावण सीता को चुराने आता है। एक अजब बात यह हुई है कि किसी लोक-काव्यगत रुढ़ि का आश्रय लेकर सीताकी झोंपड़ी वृन्दावनमें दिखाई गई है—पञ्चवटी को लोक-कवि न जाने वृन्दावनमें कैसे ले आया ? इस झोंपड़े के पखुवाड़ेमें केवड़ा महक रहा है। रावण कहता है—'सीता, तुम राम को भूल जाओ, मैं तुम्हारे लिए चूड़ा गढ़वा दूँगा।' सीता कहती है—'तेरे चूड़े को मैं पत्थर पर दे पटकूँगी, अरे राम तो मेरे जन्म-जन्म के पति हैं।' गुजरात की प्राम्य महिला, अन्य प्रान्तीय स्त्रियों की भाँति ही, चूड़ा पहनकर एक बहुत बड़ा सुख मानती है, इसी स्थानिक रङ्गने इस गीतके पृष्ठपटको सजीव बनाया है। युद्धके पश्चात् प्राप्तकी हुई सीता को रामने क्यों देश-निकाला दे दिया, इसका कारण गुजराती लोकगीतमें अलगसे दिया गया है। अन्य स्त्रियों के कहने पर एक दिन सीताने रावण का चित्र अङ्कित कर दिया था। रामने इसे देख लिया। इसी पर वे बिगड़ गए, कहने लगे—मेरे शत्रु की तसवीर बनाकर किसने इतना बड़ा अपराध किया है? और जब उन्हें पता चला कि वह सीताकी कृति है, तो वे भैया लक्ष्मण से कहते हैं कि वह सीता को बन में छोड़ आए। लक्ष्मण सीता को रथपर बिठाकर ले चलता है। पहली गली में प्रवेश करने पर ही एक अमङ्गल यह होता है कि सामने से काला नाग राह काट जाता है। दूसरी गलीमें काला काग कांय-कांय कर उठता है—सीता का हृदय फिर अमङ्गल से भयभीत हो जाता है। वापस आकर लक्ष्मण राम से कहता है—'जल बिना जैसे मीन तड़पती है, ऐसी सीता को छोड़कर आया हूँ मैं।' एक गीतमें एक स्त्रीका हृदय केवल इसीलिए उदास हो उठा है कि उसको चुनरी में काली धारी है। बारी-बारी से उसे परिवारके प्रमुख व्यक्ति मनाते दीखते हैं, अन्त में पति के मनाने पर वह मरते इस चुनरीको पहनने पर राज़ी हो जाती है। नौलड़ा हार टूटने पर पनिहारिन का गीत कितना कहुण हो उठता है ! सास की तुलना कहीं-कहीं सागर की लहर से की गई है। जेठानी यों चमकती है, जैसे वह बादल की दामिनी हो।

लोकगीत जीवन के साथ-साथ चला है। प्रथा और रुढ़ि ने इसे चिरजीवी बनाया है। स्त्री ने पुरुष से कितना अधिक गाया है ! गुजराती लोक-गीतने गुजरात की स्त्री से कितनी

धरती गाती है

सजीवता पाई है ! पुरुष अधिक नहीं बोला, मूक बना वह बहुत कुछ सुनता रहा है, स्त्री की सृजन-शक्ति के सम्मुख जैसे वह नतमस्तक हो गया हो। मां बनकर स्त्री ने शिशु के साथ ही सरस लोरियों की सृष्टि भी की; शिशु को सम्बोधन करके उसने एक दिन पहले-पहल गाया था—‘तू देवताओं की ओर से आया हुआ उपहार है।’ विवाह-गानमें, ‘गरबा’ नृत्यके गीतों में और विभिन्न उत्सवों के अन्य गीत-भण्डार में स्त्री की वाणी सुनने को मिलती है।

ओ गुजरात ! धन्य है तुम्हारी स्त्री, जिसने लोकगीतको अपने शिशुके साथ-साथ दूध पिलाया है, जिसने फिर अपनी ही कृति को स्नेहपूर्वक आशीर्वाद भी दिया है।



बुन्देलखण्ड मूक नहीं

: १

कहां से आते हैं इतने गीत लोक-जीवन में ? कुछ पागल काले बादलों से, बस बरसने को तैयार; कुछ हृन्द-धनुष से, सूर्योदय-से लाल-लाल; या फिर सूर्यास्त की रक्त-रश्मियों से, बढ़ते अंधेरे का अंचल छूते; गाय के दूधिया, मिष्ट श्वास से; उगते गेहूँ से, धान से या फिर किसी भी अनाज से; फसल काटते मस्त कृषक के दिल से; घास छीलती नारी की चुनरी-से अस्तव्यस्त; स्मरण-विस्मरण की शॉखमिचौनी-से । जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत । कल्पना भी करती है अपना काम, रस-वृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिलोरा भी। पर ये सब हैं खाद । जीवन के सुख, जीवन के दुःख ये हैं लोकगीत के बीज । लोकगीत हृदय के खेत में उगते हैं । सुख के गीत उमंग के ज़ोर से जन्म लेते हैं । और दुःख के गीत तो खौलते लहू से पनपते हैं और प्रसुओं के साथी बनते हैं ।

मैं चिरगांव में हूँ, श्री मैथिलीशरण के यहाँ ! सन् १९३१ के अन्तिम दिनों में जब मैं यहाँ आया था, यहीं ठहरा था । तब मैं अकला था । अब मेरी पत्नी और कन्या भी मेरे साथ हैं । साढ़े पाँच वर्ष बाद भी यह घर ज्वलन्त मानव-प्रेम और आस्थापूर्ण आतिथ्य की वही पुरानी रूप-रेखा लिये हुए है । 'आप मेहमान नहीं हैं, घर के आदमी हैं ।' कबिचर

धरती गाती है

मैथिलीशरण जी कह रहे हैं। एक कविवर ही नहीं, सियारामशरण और उनके सबसे बड़े भैया भी यही बात दोहरा रहे हैं।

श्री कृष्णानन्द गुप्त से भी मैं मिल चुका हूँ। पर वह योद्धा-से दिलवाले कवि, वे मुन्शी अजमेरी, कहाँ हैं ? पिछली बार जब वे यहीं, इसी आँगन में, चाँदनी रात में बुन्देलखण्डी लोकगीतों की प्रशंसा कर रहे थे, मेरी कितनी आस बंधी थी ? मुझे अपनी ग़फ़लत पर गुस्सा आ रहा है। मैं जल्द यहाँ क्यों न आया ? वे होते तो मेरी कितनी सहायता करते। आज मैं उनके बड़े पुत्रसे मिलने गया था। सियारामशरण जी मेरे साथ थे। मुझे उनके घरमें बैठे रोना भी तो न आया। जैसे मैं भीतर ही आँसू पीकर रह गया। यदि वे आज मौजूद होते, तो मैं ईसा से एक शताब्दी पूर्व की एक चीनी कविता के शब्दों में, आरम्भ में 'शंगया' के स्थान पर अजमेरी जी का नाम लेकर, झूट कह उठता—'अजमेरी जी, मैं तुम्हारा मित्र बनना चाहता हूँ, हमेशा-हमेशा के लिए, निस्संकोच और निरन्तर। जब सब पहाड़ियाँ मैदानों में परिणत हो जायँगी और सब दरिया सूख कर रह जायँगे, जब जाड़े में बादल चमकना और गरजना शुरू करेंगे और गर्मियों में बर्फ गिरा करेगी और जब आकाश और धरती मिल जायँगे, उस घड़ी से पहले मैं जुदा नहीं होने का।'

मुन्शी जी जितना लिख सकते थे, उतना उन्होंने लिखा नहीं। बातें करने के वे पूरे रसिया थे। बेतवा की तरह उनका दिल बह पड़ता था—वही बेतवा-सी लहरें, वही बेतवा-सा प्राकृतिक सौंदर्य उनकी वाणी में मौजूद था। यह सब जानकर भी वे जैसे अपने प्रति बेखबर-से रहने में ही सुख पाते थे। गुप्त-बन्धुओं को फलते-फूलते देखकर उनसे दिन-दिन भर काव्य-चर्चा करने में ही जैसे उन्होंने अपने रचनात्मक सुख की इतिश्री समझी थी। कभी कुछ लिख लिया और बस।। जी भर गाया किये, कोई सुनने वाला चाहिए। चारण-इतिहास के अन्तिम पन्ने की भाँति वह आज कहाँ छुप गए !

अजमेरी जी का एक प्रिय लोकगीत आज मुझे कितना सजीव जान पड़ता है। पास के 'छिरौना' ग्राम में श्री कृष्णानन्द गुप्त के साथ जब मैंने इसे सुना, तो जैसे अजमेरी जी ही मिल गए—

गाढ़ी वारे मसक दै बैल
अबै पुरबइया के बादर ऊन आए
कौना बदरिया ऊनई, रसिया
कौना बरस गये मेय
अबै पुरबइया के बादर ऊन आए
आगम बदरिया ऊनई, रसिया
पच्छम बरस गये मेय
अबै पुरबइया के बादर ऊन आए
घुंघटा बदरिया ऊनई, रसिया

गलुअन बरस गये मेघ

अबै पुरवाई के बादर ऊन आए

—‘अजी ओ गाड़ीवान, बैलों को हांक दो ज़रा,

पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं रे !

कौनसी बदरिया उमड़ी है, अजी ओ रसिया ?

कौनसा मेघ बरस पड़ा ?

पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं रे !

आगे की बदरिया उमड़ आई है, अजी ओ रसिया !

पीछे का मेघ बरस पड़ा ।

पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं रे !

घूँघट बदरिया उमड़ आई है अजी ओ रसिया !

गालों पर मेघ बरस पड़ा ।

पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं रे !’

अनुवाद में मूल गीत की सुन्दरता पैदा नहीं की जा सकती । एक तो यों ही संगीत से पृथक् हुए गीत के शब्द, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के कथानुसार, ‘पंखहीन तितली की तरह’ अत्यन्त असमर्थ हो जाते हैं, और अक्सर अनुवाद में रही-सही खूबसूरती आधी भी नहीं आ पाती ।

पुरवाई लोकगीत के घर की वस्तु है । पुरवाई के बादलों को लोकगीत ने न जाने कितनी बार अर्थ दिया होगा । ज़रा चित्र तो देखिए । छकड़ा चला जा रहा है । कोई कह उठा—पुरवाई के बादल उमड़ आये हैं, बैलों को तेज़ करो । देखते-ही-देखते घूँघट तले ग्राम्य-वधू की आँखें भी बरस पड़ीं, उसके गाल भीग गए । आँसुओं का नाम नहीं लिया गया, उनकी ओर संकेत भर किया गया है । वियोग के आँसू हैं ये शायद; पर वियोग ही क्यों, गरीबी के क्यों नहीं ? ग्राम्य-वधू का घूँघट भी तो पुरवाई के मेघ-सा श्यामल है, और मेघ बरसने पर जैसे धरती भीगती है, घूँघट तले भीग रहे हैं वधू के गाल । लोकगीत आँसुओं को फट देख लेता है । इसका वह चिर-अभ्यस्त है ।

: २ :

सवेरा । श्री कृष्णानन्द गुप्त के साथ मैं नरौना ग्राम में आ पहुँचा हूँ । एक छोटा गीत मैं लिख चुका । उसी छन्द में एक और गीत, जिसमें महोबे के स्वनामधन्य वीर आल्हा की सूनी तलवार का बखान किया गया है, मैंने अभी-अभी लिखा है—

रैन बिहूनी चन्दा बिन

पुरख बिहूनी नार

बहन बिहूनी भइया

गरुये आल बिना तलवार

धरती गाती है

—'जैसे चन्द्रमा-विहीन रात हो,

पुरुष-विहीन नारी,

भाई-विहीन बहन,

वैसे ही गर्वीले आल्हा बिना है यह तलवार !'

कृष्णानन्द मुझे बता रहे हैं कि आल्हा की वीरगाथा बुन्देलखण्डी लोकगीत को झून्झ गई है। पृथ्वीराज के समकालीन इस अमर वीर का अभिनन्दन जन-श्रुति में सर्वत्र मौजूद है। लोकगीत आरम्भ से ही वीर-पूजा का समर्थक रहा है। आज भी 'गरुया आल' (गर्वीला आल्हा) जन-मानस में मौजूद है, और लोकगीत में आल्हा की सूनी तलवार-सम्बन्धी उपमाएँ अपने अन्दर मसिया की चोट लिये हुए हैं।

और कई गीत मिले हैं। सभी बहुत काम के हैं, यह बात नहीं। कुछ अपूर्ण ही मिले हैं। उच्च साहित्य में भी तो प्रायः रचनाएँ ऊँच-नीच लिये रहती हैं। यही हाल लोक-गीत की दुनिया का भी है।

लोकगीत के बिखरे खजाने का दौरा कर देखिए। कई आभा-विहीन गीत, जिनमें जीवन और प्रतिभा की नसें रक्तहीन हैं, मौत और विस्मृति के पाँवों तले दम तोड़ते नज़र आयेंगे। इनके सैकड़ों भाई इनसे पहले मर चुके हैं, आदमियों की भाँति ही। मौत अच्छे गीतों पर आती है; लेकिन मर-मरकर भी गीत फिर-फिर पैदा होते रहते हैं। कई बार तो पिछले जन्म का कमज़ोर गीत भी इस जन्म में एक अदम्य उत्साह पा लेता है; लेकिन यह तभी होता है, जब जनता की सृजन-शक्ति कायम हो और जीवन की प्रगतिशील नसों में ताज़ा जहू का बहना रुक न गया हो।

संतूलाल लुत्तरी से 'पहाड़ी' ग्राम में भेंट हुई है। उसे एक पुराना गीत याद आ गया है। वह कहता है, यह 'फाग' है। उसके स्वरों में एक ख़ास असर है। गीत में एक पथिक का सम्बोधन किया गया है—

जिन जायो बिदेसी दिन थोरो
दिन थोरो रे दिन थोरो
थोरो जिअन मुख ना मोरो
जिन जायो बिदेसी दिन थोरो
ऊँचे अटा पै पलंग विछादऊँ
दुआरे बांध दौ जो घोरो
जिन जायो बिदेसी दिन थोरो

—'ओ परदेसी मत जा, दिन थोड़ा रह गया है

दिन थोड़ा रह गया है रे

बहुत थोड़ा दिन रह गया है रे

जीवन थोड़ा ही तो है, मुख न मोड़ो

ओ परदेसी, मत जा, दिन थोड़ा रह गया है ।

ऊँची अटारी पर पलंग बिछवा देती हूँ

अपना यह घोड़ा बाँध दो मेरे द्वार पर

ओ परदेसी, मत जा, दिन थोड़ा रह गया है ।'

हम लौट आये हैं । सेंटूलाल का गीत मुझे पुरानी चीनी कविता की चित्र-सुलभ सरलता और व्यंजन की याद दिला रहा है ।

भोजन से निपट कर मैं मैथिलीशरण और सियारामशरण के सम्मुख सेंटूलाल का गीत सुना रहा हूँ । "मार्मिक गीत है ।" सियारामशरण से मुझे इन्हीं शब्दों की आशा थी । मैथिलीशरण भी सहमत हैं । मैथिलीशरण को भी एक गीत याद आ गया है । 'फिरसे कहिये'—यह कहकर मैंने अपनी काफी खोल ली है । इसे वह 'दादरा' बतला रहे हैं । इसका अनुवाद सहज है—

नजर भर हेरत काय नइयाँ
हम तौ राजा पिया बन की हिरनिया
तुम ठाकुर के लरका
तुपक तीर मारत काय नइयाँ
नजर भर हेरत काय नइयाँ
हम तौ राजा पिया जल की मछरिया
तुम धीमर के लरका
भूमक जाल डारत काय नइयाँ
नजर भर हेरत काय नइयाँ

—'नजर भरकर तुम मुझे देखते क्यों नहीं ?

ओ प्रियतम ! ओ राजा ! मैं तो बन की हरिनी हूँ

और तुम हो ठाकुर के लड़के ।

अपनी बन्दूक या तीर मुझ पर क्यों नहीं छोड़ते ?

नजर भरकर तुम मुझे देखते क्यों नहीं ?

ओ प्रियतम ! ओ राजा ! मैं तो जल की मछली हूँ

और तुम हो धीवर के लड़के

फँकते क्यों नहीं झट अपना जाल ?

नजर भरकर तुम मुझे देखते क्यों नहीं ?'

यह प्रेम-गीत जरूर एक अनुभूति लिये हुए है । सौन्दर्य-बोध के लिए आमन्त्रित करती हुई लजीली कन्या को आज अपनी बात कहनी ही पड़ी । हरिनी क्या स्वयं बन्दूक या तीर से घायल होना चाहेगी ? और मछली स्वयं धीवर युवक से जाल डालने को कहेगी ? कला के किस सत्य का प्राण-प्रवाह है यह ?

धरती गाती है

‘पहाड़ी’ ग्राम में पूछने पर पता चला है कि श्री मैथिलीशरण से प्राप्त हुआ गीत ‘रावल’ गीतों की बिरादरी में से है।

३० अगस्त। साढ़े चार बजे शाम। हम ‘बस स्टैण्ड’ पर पहुँच गए हैं। बस आध घंटे बाद चलेगी। तो कुछ किया जाय। लीजिए, मन्नू मिल गया। जात मरासी। अभी युवक ही तो है। गला अच्छा है। वह इधर-उधर के हिन्दी गाने सुनाने पर तुला हुआ है। ‘भाई, मैं तो सिर्फ देहाती चोज़ चाहता हूँ’—यह मेरी ज़िद है। वह मान गया है। और उसने जो गीत गाया है, एक विशेष अंग की पूर्ति करता नज़र आता है—

पोता लाग रहा, महाराज
जुनरिया हो गई मन भरकी
मुनसी आए, पटवारी आए
आए तैसीलदार
होने लगी कुरकी
जुनरिया हो गई मन भरकी
लाँगा बिक गयो, लँगरा बिक गयो
बिक गई अँगिया तनकी
जुनरिया हो गई मन भरकी
राजा के बाँधन को सेला बिक गयो
फ़ाजिअत हो गई घर-घर की
जुनरिया हो गई मन भरकी

—‘ओ महाराज, लगान अधिक देना पड़ रहा है,
ज्वार रुपये की मन भर हो गई है
मुन्शी आया, पटवारी आया,
तो तहसीलदार भी आया,
कुर्की होने लगी है,
ज्वार रुपये की मन भर हो गई है।
मेरा लहँगा बिक गया, ओढ़नी बिक गई,
तन की अँगिया भी बिक गई,
ज्वार रुपये की मन भर हो गई है।
सेला, जिसे मेरा पति पहनता था, बिक गया,
घर-घर हुई है यही क़ज़ीहत,
ज्वार रुपये की मन भर हो गई है।’

अंगरेज़ी काल का यह बुन्देली लोकगीत किसानों की बढ़ती गरीबी का चित्र दिखा रहा है। अनाज की सस्ती के और लगान की बढ़ती के मारे जीवन दूभर हो रहा है।

निहारिये तो ज़रा कुर्की के करुण दृश्य घर-घर अनिमेष दृष्टि से ! किसान नारी, जिसका लहंगा कुर्क हो गया, जिसकी ओढ़नी और तन की अँगिया भी उतार ली गई, जिसके पति का एक मात्र रेशमी ओढ़ना कुर्क हो गया, क्या एक दम भीरु है ? इसी अवस्था के एक पंजाबी गीत में किसान नारी ने गेहूँ को, जो एक दम सस्ता बिक रहा था—इतना सस्ता कि उसे पैदा करने वाले के पहले कुछ भी मेहनत नहीं पड़ रही थी, सम्बोधन किया है—‘ओ गेहूँ, एक बार फिर महँगे होकर दिखलाओ !’ रसवन्ती, सुखद धरती की पुत्री—किसान नारी का दुःख-गीत प्रत्यक्ष जीवन के ताने-बाने से बना है। इस उलझी तानी को कौन सुलझाया ? कब जागेगी वसुधा की किस्मत ? यहाँ यह पतझड़ ! और उधर साहित्य-सेवी जमाएँ बैठे हैं मधु श्रुति की महफिल, व्यंग-परिहास, नोट-मोंक, गुलछर्रे ! करुण रस उनका सीमित है प्रेमियों की वियोग-व्यथा तक ! किसान ऐसे हैं, वेसे हैं, ग्राम्य-जीवन में पग-पग पर मिलते हैं प्रकृति-उर्वशी के पद-चिह्न—इसी मान्यता पर टिका हुआ है उनका गर्व असीम ! कब देखेंगे वे किसान को ? कब वे अपनी आँखों से रोती भारत माता को देखेंगे ? सुनेंगे कब अपने कानों से वे किसान के दुःख-गीत ? साहित्य में फिर से वसुधा का हृदय-स्पन्दन कब आयगा ?

: ३ :

कल रात भोंडेर में ही गुज़री, श्री रामकृष्ण शर्मा की हवेली में । शर्माजी यहाँ नहीं रहते । पाँडोरी में, जहाँ वह एक ज़मींदारी में मुख्य प्रबन्धक के पद पर नियुक्त हैं, उनसे भेंट होगी । वे मैथिलीशरण जी के मित्रों में से हैं । मेरे पास गुप्तजी का पत्र है । पाँडोरी में हम शर्माजी के यहाँ ठहरेंगे ।

हम पाँडोरी के लिए चल पड़े । थोड़ी दूर पर रास्ते में नदी पड़ी है । सुन्दर दृश्य है । शर्माजी की ज़मींदारी का एक पथ-प्रदर्शक हमारे साथ है । अपनी कन्या को गोद में लिये मैं पानी में चला जा रहा हूँ । मेरी पत्नी सहमी-सी मेरे पीछे आ रही है । ‘आपके ग्राम-गीत धन्य हैं और आप भी !’ —वह कह रही है, आपके साथ मुझे न-जाने ऐसी कितनी नदियाँ लाँघनी होंगी ?’ जो हो, कविता, मेरी कन्या, खुश है । अपनी माँ का व्यंग्य वह अभी नहीं समझ सकती । ‘मेरी मेहनतके ७० फी-सदी पुण्यका श्रेय तो तुम्हारा है । तुम मेरा साथ न देती तो कदाचित् मैं हार चुका होता’—पत्नीसे यह कहता मैं नदी पार आपहुँचा हूँ । अपने-अपने जूते पहने हम आगे बढ़ रहे हैं । कविता भूखी नहीं है; पर वह पंजाबी बाल-गान की एक कड़ी दोहराने लगी है—‘चुल्हे उल्ले टुक नी गुलाबिए, मैंनूँ लगगी भुख नी गुलाबिए ।’ (ओ गुलाबी, चुल्हे पर रोटी का टुकड़ा पड़ा है । ओ गुलाबी, मुझे भूख लगी है ।) ‘यह गुलाबी कोई स्त्री है, या तुम्हारा आयु की कोई छोटी बालिका ?’ ‘मैं यह क्या जानूँ ?’—कहकर कविता फिर गाने लगी है ।

हम पाँडोरी में पहुँच गए हैं । शर्माजी ने सब प्रबन्ध कर दिया है । पाँडोरी में बहुत से गीत मिले हैं । स्थानीय थाने के एक सिपाही ने भी पाँच-छः अच्छे गीत दिये हैं ।

घरती गानी है

सवाई दुलहिन एक ब्राह्मण स्त्री है। वह बहुत मधुर स्वर से गाती है। उसके एक गीत की टेक है—‘बखरी में को निंबला काहे डोले ?’ (घर में का नीम क्यों डोल रहा है ?) बुन्देलखण्ड का प्राकृतिक सौंदर्य यहां के लोकगीतों को भरसक उपादान दे सका है।

दरिद्र होकर भी सवाई दुलहिन खुश है। उसके मुंह से एक रसिया सुन लीजिए—

रसिया आये गरद उड़ी, गोरी
जब मोरे रसिया मेंढे पै आये
सूखी दूब हरियानी, गोरी
रसिया आये गरद उड़ी, गोरी
जब मोरे रसिया कुयला पै आये
रीते कुया भर आये, गोरी
रसिया आये गरद उड़ी, गोरी
जब मोरे रसिया द्वार पै आये
मोतिअन चौक पुराये, गोरी
रसिया आये गरद उड़ी, गोरी
जब मोरे रसिया बखरी में आये
सोने कलस धराये, गोरी
रसिया आये गरद उड़ी, गोरी

—‘भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती गर्द उड़ी।

जब मेरा भावुक प्रेमी मेढ़ पर आया,

सूखी दूब हरी हो गई, ओ रूपवती !

भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती, गर्द उड़ी।

जब मेरा भावुक प्रेमी कुएँ पर आया,

रीते कुएँ में जल उमड़ आया, ओ रूपवती !

भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती, गर्द उड़ी।

जब मेरा भावुक प्रेमी द्वार पर आया

मैंने मोतियों से चौक पुराया, ओ रूपवती।

भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती, गर्द उड़ी !

जब मेरा भावुक प्रेमी घर में आया

खुशी में मैंने सोने के कलश धराये, ओ रूपवती !

भावुक प्रेमी आगया, ओ रूपवती, गर्द उड़ी।’

कल्लू ने मुझे बता दिया था कि मुझे अधिक गीत चमारिनों से मिलेंगे और ऐसा ही हुआ भी। सबसे अधिक गीत गौरिया से मिले हैं। वह गाती है, तो जैसे कोयल बन जाती है। वह गरीब चमारिन है। त्याग और वैराग्य आमने-सामने होकर गरीबी में भी उसका

हृदय छू जाते हैं ।

पाँडोरी ग्राम के ही किसान का एक गीत मुझे मिला है—

बरसे नाईं पापी एक ऊभला
कर-कर बदरईं देगै दगा
पाँडोरी की सूख गै सब रे तला
बरसे नाईं पापी एकऊ भला
काय पै फिरती धरै डला
पाँडोरी के सूख गै सब रे तला
बरसे नाईं पापी एकऊ भला

—‘पापी ने हल्की वर्षा भी तो नहीं की

बादल उमड़ा-उमड़ा कर आज़िर दगा दे गया

पाँडोरी के सभी तालाब सूख गए

पापी ने हल्की वर्षा भी तो नहीं की ।

अरी, तुम सिर पर टोकरीयाँ लिये क्यों फिर रही हो ?

पाँडोरी के सभी तालाब सूख गए

पापी ने हल्की-सी वर्षा भी तो नहीं की ।’

किसान-स्त्री आज भी पुरातन गीत के शब्द भूली नहीं—‘सावन आ गया । मुझे जाल साढ़ी ले दो और बिंदुली खरीद दो । रत्न-जटित अँगिया ले दो, जिसपर मोर और पपीहा चितेर हुए हों ।’ (सौना आये सालू लै दियो, और बिंदिया लै दियो मोल, अँगिया लै दियो रत्न-जड़ाव की, जा में लिखे पपइया-मोर) । या फिर टटोलते-टटोलते शायद आपको रँडुए किसान का हृदय कहीं मिल जाय—‘कातिक महिना कूकर रोवै, गधवा रोवै भर बैसाख, रडूया रोवै भर सावनमें, सुन-सुन बिछिअनकी मंकार !’ (कातिक-भर कुत्ता रोता है । बैसाख-भर गधा रोता है । सावन-भर रँडुवा रोता है, बिच्छुओं की मंकार सुन-सुनकर ।)

कस्तूरे मुझे एक ‘पसर’ का गीत मिला है । प्रायः आधी रातके बाद, या कभी ठीक बारह बजे ही, किसान बैलोंको चरानेके लिए हरी घास वाले स्थान पर ले जाता है । इसे ही ‘पसर’ कहते हैं । नई वधू ने प्रायः ‘पसर’की शिकायत की है । इसी किसम का यह गीत है—

छिटक जुनइया निरमल जिन होइयो, जिन मेरी बैरिन होय

पिया पसर के बरदा डीलियो, सेजरिया सूनी हो

—‘अरी चाँदनी, छिटकना मत, निर्मल न होना, मेरी बैरिन मत बनना

पिया ‘पसर’ के लिए बैल ले जायगा, मेरी सेज सूनी रह जायगी ।’

चाँद है । सूर्य है । आकाश पर पतुरिया-सी आँखें बिछाती बिजली है । देखो तो रातका यह दृश्य—निर्मल चाँद कैसे धरतीकी ओर निहार-निहारकर मुसकरा रहा है । ओर हुआ। उदय

धरती माती है

होते सूर्यका कुंदन मुख, जिसे किसान अपने पड़ोसी की भाँति पहचानता है, जगती जोत लिये हाज़िर है। मेघ उमड़ आये। बिजली चमकी। घर बैठे-बिठाये इतना उपादान ? गीत हैं सीधे-सादे, पर कितनी संकेतमय है उनकी पृष्ठभूमि—

चन्दावरण वर मिल गये
सूरज-से मिल गये जेठ
बिजली-सी चमकत ननदी मिली
वेला चमकत चारों देस

—‘चन्दा सरीखा वर मिल गया मुझे
सूर्य-सा जेठ मिल गया
बिजली-सी चमकती ननद मिली
छिनाल चारों ओर चमक रही है।’

उरोज अभी-अभी उभरने लगे हैं। रूपवती कृषक कन्या है। अलहद युवक फव्वतीका निशाना बना। आप-से-आप जन्म हुआ है गीत का। सुनिये—

गोरी को जोबना हुमकन लगे
जैसे हिरनियाँ को सींग
मूरख जाने खता फुनगुनूँ
बे तो बाँट लगावे नीम

—‘रूपवती के उरोज उभरने लगे,
हिरनी के उभरते सींगों के समान।
मूर्ख इन्हें फोड़े-फुन्सी समझ रहा है,
नीम के पत्ते रगड़ कर लगा रहा है।’

फूल अकौआ फूलयो
और पीपर फूल न होयं
का टटोवै डाढ़ीजार के
जोबन माँ हाड़ न होयं

—‘आक के फूल खिले हैं
पीपर के फूल नहीं होते।
ओ डाढ़ीजार के देटे, क्या टटोलता है ?
उरोज में हड्डी नहीं हुआ करती !’

अँगिया फट गई। दर्जी कच्ची सिलाई के दोष से बाल-बाल बच गया है—

अँगिया जो उधड़। हरे लील की
छिपिया को नइआँ खोर

उठत बयस के दोई जोबना

कढ़ि आए पसरियाँ फोर

—‘यह हरे-नीले वस्त्र की आँ गिया उधड़ गई

दर्जी का कुछ कसूर नहीं

उठती जवानी के दोनों उरोज

पसलियाँ फोड़ निकल आये ।’

जीवन में सभी कुछ रहेगा—अमृत भी तथा विष भी, विष भी तो कभी-कभी अमृतका काम देता है। ये गीत गाते समय भूख और गरीबी की चक्की में पिसने वाले किसान अपनी समस्त वेदनाएँ भूल जाते हैं।

: ४ :

बुन्देली लोक-गीतों का अध्ययन करते समय बुन्देलखण्ड का समस्त मान-अपमान, सुख-दुःख, धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज, सब हमारी आँखों में फिर जाते हैं। लोक-गीतोंसे कहीं अधिक लोक-जीवन की पृष्ठभूमि का ध्यान रखकर चलना होगा।

यह कहा जा सकता है कि लोक-गीतों का बचपन धर्म की छाया में व्यतीत होता है। गीतों की काफी संख्या ऐसी मिलेगी, जिनका जन्म पूजा, पर्व, त्यौहारों तथा व्रतों के साथ होता है। कुल देवताओं की पूजाओं के गिर्द घूमने वाले गीतों में जनता के रीति-रिवाज हमें अपनी आत्मकथा सुना देते हैं। जन्म, विवाह तथा मृत्यु-सम्बन्धी अन्ध-विश्वास, शकुन, अशकुन, भूत-प्रेतों की पूजा के मन्त्र और गीत, जादू-टोने और पशु-पक्षियों तथा पेड़ों सम्बन्धी विश्वास—इन सबके अध्ययन से हम बुन्देलखण्ड की नब्ज पर हाथ रख सकते हैं। इस श्रेणी के मुख्य गीत हैं—

१ माता के भजन

२ कार्तिक के गीत

३ बाबा के गीत

४ नौरता-गीत

वीर गाथाओं का अलग स्थान है। इनमें कथा-गीतों के मुख्य विभाग ये हैं—

१ राछुरे

२ पँवारे

एक और विभाजन यों हो सकता है—

१ लोरियाँ

२ बच्चों के खेल-गीत

फिर संस्कार गीत—

१ सोहरे

२ विवाह-गीत—साजन, बनरा, बधाई और गारी

धरती गाती है

फिर ऋतु-गीत—

१ सावन और मलारें

२ बिलवारी, जिसे कार में गाते हैं।

३ दिवाली, जो कार्तिक में गाई जाती है।

४ फागों। ये चार प्रकार की होती हैं—सखयाऊ फागें, खुरयाऊ फागें, चौकडयाऊ फागें, और छन्दयाऊ फागें।

इनके अतिरिक्त रसियों और दादरों का अपना स्थान है। लेदें भी बहुत शौक से गाई जाती हैं। और 'सैरों' को तो हम खेलों की कविता कह सकते हैं।

अलग-अलग जातियों के कुछ विशेष गीत भी मिलते हैं, जैसे धोबियों के 'धुबियाऊ', डीमरों के 'डीमरयाऊ', गढ़रियों के 'गढ़रायाऊ'।

इनके अतिरिक्त एक विभाजन और भी हो सकता है—

१ नृत्य-गीत

२ कथा-गीत

बुन्देली लोकगीतों की विवेचना करते हुए श्री कृष्णानन्द गुप्त ने ठीक ही लिखा है—

“रात्रि की गम्भीर निस्तब्धता में यदि आप कभी पहली बार डफ और झांझ की आवाज के साथ 'हो-ओ-ओ-ओ' की गूँजती हुई तान सुनें तो आपको ऐसा जान पड़ेगा कि जंगल के भूत-प्रेत जगाए जा रहे हैं। परन्तु वह वास्तव में 'कान्हा घँघरे का राछुरा' गाया जा रहा है। आपका जी चाहे तो आप इस राछुरे को 'अहीरों का काव्य' कह सकते हैं, क्योंकि इसकी नायिका एक अहीर की कन्या है। परन्तु बात यहीं खतम नहीं हो जाती। आइये, हम इस बात का पता लगावें कि यह 'कान्हा घँघरा' आखिर था कौन और यह भी देखें कि जिस देहाती कवि ने उसे अपने काव्य का नायक बनाया है, वह कैसे समाज में रहता है और कैसी विचार-तरंगें उसके हृदय-मानस में उठ रही थीं। अहीरों के इस काव्य का अध्ययन करके हम यह पता लगा सकते हैं। इस विषय पर एक लेख भी लिखा जा सकता है, जो मनोरंजक होने के साथ ही शिक्षाप्रद भी होगा। परन्तु इस कार्य को हर कोई नहीं कर सकता।

“किसी भी ग्राम गीत का साहित्यिक मूल्य आँकना बड़ा कठिन है। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका क्या महत्व है। वास्तव में इन दोनों के बीच कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। एक सुन्दर ग्राम कहानी कला की श्रेष्ठ वस्तु हो सकती है। इसका परिचय हमें टालस्टाय की उन कहानियों से मिल सकता है, जिन्हें रूसी किसानों के मुख से सुनकर उसने अपने हंग से लिख दिया है। साथ ही इस तरह की कहानियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से हमारे लिए महत्वपूर्ण हो सकती हैं।

“हमारे प्रान्त में अज्ञात काल से जो राछुरे, पंचारे, देवी के भजन आदि प्रचलित हैं, वे तो हमारी प्राचीन संस्कृति के भग्नावशेष हैं। उनमें हमारे समाज और भाषा के विकास का इतिहास छिपा पड़ा है। ये गीत कब बने, किसने इनकी रचना की, इसका कुछ पता नहीं। परन्तु वे मानव सभ्यता के किसी बीते हुए युग की स्मृति हमें दिलाते हैं। ज़रा देखिए, अतीत का यह कवि जब कभी अपनी नायिका या नायक की यात्रा का वर्णन करता है, तो वह कोस या दो कोस का प्रयोग न करके कहता है—

इक बन चाली, दोय बन चाली,
तीजे वहाँ पहुँची, हो ओ जाय।

क्या ये पंक्तियाँ हमें सभ्यता की उस अवस्था का परिचय नहीं देतीं, जब सड़कें नहीं थीं, और मनुष्यों को सघन यनों से होकर ही अपनी यात्राका अधिकांश भाग पूरा करना पड़ता था? इसीलिए तो कवि कहता है, ‘उसकी नायिका एक बन चली, दो बन चली, और तीसरा बन पार करके वह अपने स्थान पर पहुँची।’

: ५ :

बुन्देलखण्ड का सामूहिक व्यक्तित्व यहाँ के लोक साहित्य ही में अधिक प्रतिबिम्बित होता है। यहाँ के जङ्गलों, पहाड़ों, नदियों और सरोवरों ने शताब्दियों से उस रक्त को पैदा करने में सहायता दी है, जो बुन्देलखण्ड की धमनियों में आज भी बह रहा है—वह है यहाँ का परम्परागत मौखिक साहित्य, यहाँ का वाङ्मय जिसकी रक्षा के लिए केवल साहित्य-सेवी ही नहीं बल्कि भाषातत्त्वज्ञ भी अपना सहयोग दे सकते हैं। यह बुन्देलखण्ड की आत्मा को हमारे सामने ले आता है।

पुरानी ढेरी (टीकमगढ़) के नन्दे धोबी ने धनसिंह का गीत बड़े मधुर और करुण स्वरों में गा सुनाया था। वह कण्ठे धो रहा था और उसका मन पीछे की ओर फँका रहा था—जाने कितने वर्ष पीछे की ओर! और बुन्देलखण्ड के इतिहास का एक पृष्ठ, जो उसके गीत में अंकित था, सरोवर की लहरों से खेलता नज़र आता था—

तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
छीकत बछेरा पलानियों, बरजत भये असवार
जातन मारो गौर खौं गढ़ एरछ के मैदान
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
माता पकरें फैंटरी, बैन घोड़े की बाग
रानी बोलें धनसिंघ की मोए वौन की करकें जात
तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
माता खौं गारी दई, बैँदुल खौं दयो ललकार
बैठी जो रहियो, रानी सतखण्डा, मोतिन से भर देऊँ मांग

धरती माती है —

तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
 डेरी बोली टीटही, दाइनी बोली सिहार
 सिर के सामें तीतर बोले, पर भू में मरन काए जात
 तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी ?
 कोऊ जो मेले डेरी डेरी, कोऊ जिल्ला के बाग
 जा मेले धनसिंघ जू, जां ठठे कसब के पाल
 तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी ?
 पैले मते भये ओरछें, दूजे बरूया के मैदान
 तीजे मते भये पाल में, सो मर गये कुंवर धनसिंघ
 तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
 भागन लागे भागेलुआ, उड़ रई गुलाबी धूर
 रानी देखे धनसिंघ की, घोरो आगओ उवानी पीठ
 तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
 काटौ बछेरा तोरी बजखुरी, मेटौ कनक और दार
 मेरे स्वामी जुभवाय कै, तैं आय बंधो घुरसार
 तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी
 काय खौं काटो, रानी, बजखुरी, काय मेटौ कनक ओ' दार
 दशा जो होंगे पाल में, मो पै होनेई न पाये असवार
 तोरी मत कौने हरी, धनसिंघ, तोरी मत कौने हरी

—‘तेरी मति किसने हरली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
 छीकें मारते तुमने बछेरे पर पलान कया, मनाही करने पर सवार हुए .
 जाते हुए गौर को मार डाला गढ़ ओरछा के मैदान में
 तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
 माता कमरबन्द पकड़ती है और बहिन घोड़े की बाग
 धनसिंह की रानी कहती है—मुझे किसे सौंप कर जा रहे हो ?
 तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
 माता को गाली दी, बहिन को ललकारा, (और रानी से कहा)—
 रानी सतखण्डा, तुम बैठी रहो, मोतियों से मांग भरा दूंगा ।
 तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
 बाईं ओर टिटिहरी बोली, दाईं ओर सियार
 सिर के सामने तीतर बोल उठा—पराई भूमि पर क्यों मरने जाते हो ?
 तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
 कोई छोटी-मोटी बस्ती में सामना करता है, कोई जिल्ला के बाग में

धनसिंह जाकर सामना करता है जहां 'कस्ब' वस्त्र के तम्बू लगे हैं
 तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
 पहली सलाह औरछे में हुई, दूसरी बहआ के मैदान में
 तीसरी सलाह तम्बू में हुई—सो कुंवर धनसिंह मारे गए ।
 तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
 कोई भागा आ रहा है, गुलाबी धूल उड़ रही है,
 धनसिंह को रानी देखती है कि घोड़ा खाली पीठ आ गया है
 तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
 हे बछेरे, खुरियों के ऊपरी भाग काट डालूँ, गोहूँ और दाल देना बन्द करदूँ,
 मेरे स्वामी को लड़ाकर तुम घुड़साल में आ बंधे ।
 तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?
 खुरियों के ऊपरी भाग क्यों काटती हो, रानी, गोहूँ और दाल क्यों बन्द करती हो ?
 तम्बू में धोखा हुआ, वे मुझ पर सवार ही न हो पाये ।
 तेरी मति किसने हर ली, धनसिंह, तेरी मति किसने हर ली ?

आखिर यह कुंवर धनसिंह थे कौन जिनकी याद में एक नन्हें धोबी ही की आंखों में नहीं, बल्कि समस्त बुन्देलखण्ड की आंखों में आंसू आ जाते हैं ? और जब लोक-कवि यह बताता है कि धनसिंह ने छींकते हुए पलान कसा था और वह मना किये जाने की परवाह न करते हुए घोड़े पर सवार हो गया था, और रास्ते में उसके बाईं ओर टिटि-हरी बोल उठी थी, और दाईं ओर गीदड़ चिल्लाने लगा था, तो हम किसी एक व्यक्ति या परिवार के नहीं, बल्कि समस्त बुन्देलखण्ड के पुरातन अशकुनों का परिचय पा लेते हैं ।

स्व० कृष्ण बलदेव वर्मा के कथनानुसार बुन्देलखण्ड ने "बड़े ही प्राचीन काल से लेकर ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ काल तक अनेक प्रभावशाली राज्यों का उत्थान और पतन देखा है । यह क्षेत्र सदा साहसी वीरों का लीला-क्षेत्र रहा है । इसकी भूमि रक्त से सदैव सिंचित रहने के कारण प्रायः रक्तवर्ण ही रही है । उत्तरापथ और दक्षिणापथ का कटिबन्ध होने से यहां का इतिहास भी देश के इतिहास में एक विशेष महत्व रखता है ।"

इतिहास की बड़ी-बड़ी बातें नन्हे धोबी क्या जाने, पर शायद धनसिंह के गीत की तरह के और गीत भी वह गाया करता है ।

खेतों में 'सैरे' गाये जाते हैं । सीधे-सादे, नपे-तुछे, घरेलू शब्दों के साथ किसान-कवि धीमा हल चलाये जाता है, कभी कभी इन गीतों में व्यंग्य भी समाया रहता है, जो चाहता है बद कर किसान को गले लगा लें । उसकी रग-रग में प्रकृति प्रेम भरा है । वह जंगली सागों का मूक भाषा खूब समझता है—

चौरई नौरपा तोरे दिन कड़ गये
 कनकौआ लहरियाँ लेय

धरती माती है

ठाड़ो घूमा बिनती करं
मोरी तोरे फुंदरिया कोय

—‘ओ चौलाई, और नौरपा, तुम्हारे दिन बीत गए

कनकौआ लहरा रहा है

घूमा खड़ा बिनती कर रहा है

कोई मेरी फुंदियां तोड़ ले ।’

चौरई (चौलाई), नौरपा, कनकौआ और घूमा ये सब जँगली साग हैं । नौरपा कांटेदार होता है और ग्रीष्म में उगता है । कनकौआ और घूमा वर्षा ऋतु के साग हैं । घूमा अपने पत्तों और सफेद फूलों के साथ पका कर खाया जाता है ।

वर्षा ऋतु सुहावनी है । ये जो कनकौआ और घूमा लहरा रहे हैं, शताब्दियों से किसान इन्हें जानते हैं, इन्हें पका कर खाते आये हैं । और यह गीत कोई आज का नहीं है । सब लोग ‘घूमा’ खाते हैं । घूमा स्वयं जो कहता है—मुझे तोड़ लो, खा लो पका कर ।

जीवन-पथ के एक-एक मोड़ पर लोकगीत में नई चेतना आती रहती है । और लोक गीत की रचना वृन्देलखण्ड में आज भी जारी है—

अंगरेजी परी, गोरी, गम खाने
काहाँ बने चौकी काहाँ बने थाने
काहाँ जो बन गए वे जेलखाने
अंगरेजी परी, गोरी, गम खाने
अंगीत बनी चौकी पछीत बने थाने
वा के देरी पै बन गए जेलखाने
अंगरेजी परी, गोरी, गम खाने

—‘अंगरेजी राज आ गया, गोरी धैर्य रखो !

पुलिस की चौकियां कहां बनीं, थाने कहां बने ?

जेलखाने कहां बन गये ?

अंगरेजी राज आ गया, गोरी, धैर्य रखो !

घर के आगे पुलिस की चौकियां बनीं, पिछवाड़े थाने,

घर की देहली पर जेलखाने बन गए

अंगरेजी राज आ गया, गोरी, धैर्य रखो !’

टीकमगढ़ की जमुनियाँ बरेटन यह ‘दादरो’ गाया करती है । शायद यह गीत उसी का बनाया हुआ है । मैंने बहुत पूछा; उत्तर में वह केवल हँसती रही । भूख और गरीबी के बोल उसके गीतों की विशेषता है । और अब तो ‘फाग’ के आनन्दोत्सव पर भी गरीबी बोल उठती है—

गौहूँ हते सो हो गये
भुस ले गई अंदवार
टोटे में टलवा गये
बाढ़ी में खगवार
जरीबाने में लिख लौ दोई जोबना

—‘गेहूँ था वह खत्म हो गया,

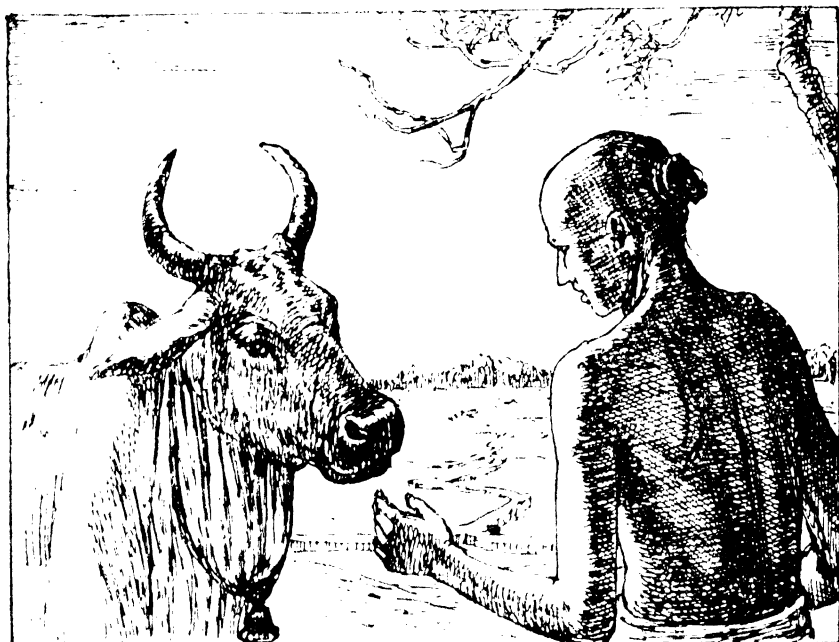
घाटे में बैल निक गए,

भूसे को ऋक्ष उड़ा ले गया ।

बनिये को बाढ़ी का अनाज लौटाने में मेरी हँसी भी चली गई,

अब लगान न चुका सकने के जुरमाने में मेरे दोनों उरोज लिख लो !’

यह एक स्त्री की आवाज़ नहीं, समस्त जनता की आवाज़ है । इसे क्या हम एक व्यंग्य के रूप में देखें ? यह दबी हुई, पिसी हुई जनता की आवाज़ है । बुन्देलखण्ड निर्धन सही, वह मूक नहीं ।



अपनी जोरू को समझा

शाबाश बेटा ! अच्छा तेरी उमर बढ़ी करे... जल्दी-जल्दी पैर उठा, सयाने दूल्हा !.....'

इस समय मुझे किसानों के ये शब्द याद आ रहे थे जो वे प्यार से बैल को पुचकारते समय मुँह से निकालते हैं। अपने गाँव में मैंने ये बहुत सुने थे। और उस समय ये अपनी सारी गति और प्रभाव के साथ मेरे मन में जाग उठे थे।

हम बहुत दूर निकल आए थे। खेतों में हल चल रहे थे। एक बूढ़ा किसान अपने बैलों को पुचकार रहा था। रास्ते में मैंने चित्र का दूसरा रूख भी देख लिया था। एक बैल बुरी तरह पिट रहा था।

द्वारकानाथ का ध्यान खींचते हुए मैंने कहा—“बैलों को यों पुचकारना भी उनसे काम निकालने का ही एक तरीका है। और सच तो यह है कि यदि बैल के पैर आगे न उठें, या वह ज़रा सुस्त नज़र आए, तो यही किसान जो अब यों यह ज़ाहिर कर रहा है कि इसका सारा प्यार इसी बैल के लिए है, बेरहमी पर उतर आए और शायद यह भी न देखे कि कम मारने से गुज़ारा हो सकता है तो फिर ज़्यादा ज़ाल-पीड़ा होने की क्या ज़रूरत है।”

द्वारकानाथ बोला—“किसान स्वयं भी इन बैलों से अच्छी अवस्था में नहीं हैं। फ़रक इतना ही है कि ये बैल न रोते हैं न हंसते हैं और न ज़्यादा बड़बड़ाते हैं। बस चुपचाप मार खाते

रहते हैं। स्वयं किसान बहुत चिन्तित हैं। पर ज़मींदार का जूआ उनके गले में शायद सदा के लिए पड़ चुका है। अब ज़मींदार को तो वे कुछ कह नहीं सकते, बदले में अपने नीचे काम करने वाले गरीब बैलों पर अपना गुस्सा निकालते रहते हैं।”

उसका पूरा नाम था महीकरे द्वारकानाथ बी० ए०। पर मेरे लिए वह केवल द्वारकानाथ था। उसकी मदद से मैंने उसकी भाषा के बहुत से लोकगीतों का अध्ययन किया था। प्रायः वह इस बात पर जोर दिया करता था कि कर्नाटक के लोकगीत बेहद सादा होते हैं, इसीलिए वे हम पर इतना अधिक असर करते हैं, और यही उत्तम गीतों की पहचान है।

मैंने उसे बताया कि एक बैल पंजाबी लोकगीत में अपने मालिक से यह शिकायत करता है कि बुढ़ापे में उसे मण्डी में ले जाकर बेच आने का झ्याल सिर से बेरहमी पर टिका हुआ है। मण्डी में उसे कोई बूचड़ ही खरीद सकता है। इससे कहीं अच्छा तो यह हो कि वह उसे घर पर ही रखे और हरी घास की बजाय सूखे तिनके ही खिला दिया करे।

वह बोला “हो सकता है कि बूढ़े बैल का ऐसा कोई गीत हमारे प्रांत में भी मिल जाय, पर बैल का एक दूसरा गीत मुझे याद है। वह ‘येत्ति ना हाडू’ कहलाता है। ‘येत्ति’ हम बैल को कहते हैं, ‘हाडू’ गीत का पर्यायवाची है। ‘येत्ति ना हाडू’ अर्थात् बैल का गीत। पर प्रसंग के अनुसार मैं इसे ‘बैल की शिकायत’ कहना उचित समझता हूँ।”

“किसकी शिकायत की है बैल ने?”

“अपनी मालकिन की।”

“पूरा विचार तो वह गीत सुनने के बाद ही किया जा सकता है पर इतना ज़ाहिर है कि हमारे लोकगीतों में सदियों से हल में जुतने वाले बैल भी अपने भाव बतलाते आए हैं।”

“यह क्यों नहीं कहते कि स्वयं चुप रह कर बैलों ने अपनी भाषा किसानों को दे दी है।”

“सच कहा... बात यह है कि हमारे किसानों का जीवन, जैसा कि मैक्सिम गोर्की ने पुराने रूस के सम्बंध में लिखा है, ‘ऐसी गरीबी और जहालत में गुज़रता है कि राम उनके दिल-बहलाव का एक बहाना बन जाता है। दुःख और संकट से वे बच्चों की तरह खेलते हैं और अपनी तकलीफ़ पर शर्मिन्दा नहीं होते। काम से थक जाते हैं तो बदनसीबी के तकिये पर आराम करते हैं। आग है उनके लिए खिलौना; और घाव हैं उनके शरीर का गहना...’ और अपने राम के अलावा किसान अपने पशुओं के राम को भी अपने दिल-बहलाव का कुछ कम बहाना नहीं समझते। जिस तरह खामोश बैल ने अपनी भाषा अपने मालिकको सौंप दी है उसी तरह पुराने ज़माने में कितने ही दूसरे पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों ने अपने मर्म-भरे भाव उन ऋषियों को सौंप दिये थे जो जंगलों में आश्रम बनाकर रहते थे। प्राचीन हिन्दुस्तान की कविता इसकी अमानतदार है।”

धरती गाती है

सामने एक किसान अपने बैल को पुचकार रहा था। मैंने पूछा—“यह भला आदमी क्या कह रहा है ?”

“जल्दी-जल्दी चल, मेरे नन्दी, वह कह रहा है, जैसे स्वयं वह कोई शिव हो।”

हम एक वृत्त के नीचे बैठ गए। परे एक मन्दिर नज़र आ रहा था। शायद वह शिव का मन्दिर था। मन्दिर का शिव क्या जानता था कि खेतों में हल चलाते समय अपने बैल को पुचकारते हुए धरती का बेटा भी देवता बन जाता है, और फिर जब वह एक लम्बे या छोटे विराम के बाद उसी ज़बान से गालियाँ देने लगता है तो अपने बड़े-से-बड़े देवता से भी नहीं डरता।

द्वारकानाथ अपना गीत सुनाने लगा—

मागीय होड़ियागा,
नना कइले माथ दिन्दा माड़िसीकोण्ड्या,
ना होगी ओन्दा,
तेनिधन्टा तिनदरा,
कल्ल कल्लीले होड़ादियो,
नम जीवा होदावो कइलासका।

—‘माघ महीने का हल चलाते समय
मुझसे प्रेम के साथ सब काम करा लिया।

मैंने जाकर अनाज की एक बाल खा ली

तुमने मुझे पत्थरों से मारा

मेरी आत्मा कैलास को चली गई।’

मैंने हैरान होकर कहा “तो बैल मर गया ?”

“नहीं तो। गीत के इस भाग की अन्तिम पंक्ति में बैल कहता है कि उसकी आत्मा किसान के पत्थर दे मारने से तड़प उठी और कैलास को चली गई ताकि शिव से शिकायत करे। शिव पर यह ज़िम्मेवारी है कि वह बँलों पर होनेवाले अन्याय की रोकथाम करे, नहीं तो उसे नन्दी बैल पर सवारी करने का क्या हक़ है ?”

पर मेरे मन में मेरा अपना झ्याल बराबर बना हुआ था—तो बैल मर गया ?

गीत की आवाज़ सुनकर कुछ किसान हमारे समीप आ गए। उनमें से एक जो बहुत बूढ़ा था, मेरे चेहरे की ओर ध्यान से देख रहा था। मुझे यों लगा कि मेरे अपने दादा मेरे सामने आ बैठे हैं।

द्वारकानाथ ने गीत का दूसरा चरण शुरू किया—

ना वोन्दा बित्तिदा
ना ओन्दा बेलादीदा

ना होगी ओन्दा
होड़े धन्टा तिनदरा
बड़बड़ागिले होड़ादियो
नम जीवा होदावो कइलासका

—‘मैंने ही यह खेत बोया

मैंने ही इसमें अनाज उगाया ।

मैंने जाकर एक बे-दानों की बाल खा ली

तुमने मुझपर लगातार डण्डे बरसाये

मेरी आत्मा कैलास को चली गई ।’

मैंने कहा—“बैल की पुकार कितनी करुण है। सदियों से यह पुकार हसी तरह उठ रही है। अब तक यह आवाज़ शायद नन्दी बैल तक नहीं पहुँची, नहीं तो क्या वह अपने ऊपर सवारी करने वाले देवता से कहकर अपनी बिरादरी वालों का दुःख सदा के लिए मिटा न डालता ?”

द्वारकानाथ मेरे ब्यंग को समझता था। वह मुस्कराकर मेरी तरफ देखने लगा। वह बूढ़ा किसान ऐसी चुभती हुई निगाह से मेरी आंखों में झाँक रहा था जैसे उसने मेरी बात समझ ली हो और कहना चाहता हो कि शिव और नन्दी के सम्बन्ध में यों सोचना पाप ही तो है।

द्वारकानाथ ने गीत का तीसरा चरण शुरू किया—

हत्तीकला कुड़ अन्दरा
निना मड़दी अत्ता मारी तिरुव्याला
हत्ता गोलागा तिन्नन्दरा
खण्डगा तिन्नुवा
तुण्डीना तन्धूडो
नम जीवा होदावो कइलासका ।

—‘तुम मुझे बिनौले खिलाने को कहते हो

तुम्हारी जोरू दूसरी तरफ मुँह फेर लेती है,

तुम उससे दस ‘गोलागा’ अनाज खाने को कहते हो

वह एक ‘खण्डगा’ खा डालती है।

इस अल्हड़ अलबेला को तुमने क्यों डाल रखा है घर में ?

मेरी आत्मा कैलास को चली गई ।’

द्वारकानाथ ने बतलाया कि ‘गोलागा’ एक तरह का नाप होता है और एक ‘खण्डगा’ बीस ‘गोलागा’ के बराबर होता है।

मैंने कहा—“यहाँ बैल की आवाज़ एक कुदरती स्पष्टता लिये हुए है। जब वेदना अपने

धरती गाती है

शिखर पर पहुँच जाती है तो प्रायः आदमी पागल हो जाता है, पर बैल की अवस्था में ऐसा नहीं हुआ। यहाँ पहुँच कर वह भूल गया कि स्वयं किसान ने उसे अनाज की एक बाल खा लेने के कसूर में पत्थरों और डण्डों से मारा था। अपने पति से यह सुनकर कि बैल को बिनौले खिलाने चाहिये, किसान की पत्नी ने मुँह फेर लिया। बस यह लापरवाही उसे एक आंख न भाई। और बैल यह भी चाहता है कि उसके मालिक के घर का खर्च किरायत से चले।”

द्वारकानाथ गीत का अगला चरण गा रहा था—

हिण्डीया कुड़ुअन्दरा
निना मड़दी मूगने मुरादाला
खण्डगा तिन्नन्दरा
इखखण्डगा तिन्नन्था
तुण्डीना तन्धूडो
नम जीवा होदावो कइलासका

—‘तुम मुझे खली खिलाने को कहने हो
तुम्हारी जोरू नाक सिकोड़ लेती है,
तुम उससे एक खण्डगा अनाज खाने को कहते हो
वह दो खण्डगा खा डालती है।
इस अलहड़ अलबेली को तुमने क्यों डाल रखा है घर में ?
मेरी आत्मा कैलास को चली गई।’

सब किसान क्रहक्रहा मार कर हंस पड़े। द्वारकानाथ झेंपकर बोला—“ये लोग कुछ नहीं जानते। इनकी इतनी समझ ही नहीं कि गीत की अन्तरीय वेदना को पहचान सकें। मुझे खूब याद है जब मैंने पहले-पहल एक गाँव में इसे सुना था तो मेरी आँखें भीग गई थीं।”

इतनी खैर थी कि उसने ये बातें कन्नड़ भाषा में नहीं कही थीं। किसान हमारी तरफ ध्यान से देख रहे थे। और वह बूढ़ा किसान तो यों देख रहा था जैसे मेरे आर-पार देख लेगा।

द्वारकानाथ गीत का चौथा चरण गा रहा था—

इक्की दरा हेण्डी नादिना
हृचचीदरा कुल्ल नादिना
देवरा मुन्दीना
परसादा ना आदा
मर्याता कादेना
नम जीवा होदावो कइलासका

—‘शौच करूँ तो गोबर प्राप्त होता है
गोबर थापने से उपले बनते हैं,
देवता के सामने का
प्रसाद भी यों मेरी मदद से प्राप्त होता है।
फिर और किस-किस काम आऊँ ?
मेरी आत्मा कैलास को चली गई।’

द्वारकानाथ ने बताया कि चौथी पंक्ति में जिस प्रसाद का नाम लिया गया है वह भस्म या भभूत है जो आखिर उपलों से बनती है और मन्दिरों में प्रायः भक्तों में बांटी जाती है।

फिर वह अन्तिम चरण गाने लगा—

सत्तरा तोगलादेना
मेट्टिद्रा केरावादेना
हेगला म्यालाडन्ता
बारकोला ना आदा
मर्याता का देना
नम जीवा होदावो कइलासका

—‘मर जाता हूँ तो खाल प्रदान करता हूँ
पहनने को इसी से तूते बनने हैं,
हमारे कन्धों पर लहराने वाला चाबुक भी (इसी खाल से) मैं ही प्रदान करता हूँ।
फिर और किस-किस काम आऊँ ?
मेरी आत्मा कैलास को चली गई।’

गीत समाप्त हो गया। पर किसान हिलने का नाम न लेते थे। द्वारकानाथ से पता चला कि यह गीत ‘मललीगे दण्डे’ (चमेली का गुच्छा) नामक लोकगीत-संग्रह में जिसका संपादन श्री कापसे रेवण्या नवरू ने किया है, प्रकाशित हो चुका है। फिर कुछ विराम के बाद वह बोला—“मूक पशु पर आदमी कितना अन्याय करता है !”

अपना यह ख्याल उसने कन्नड़ भाषामें किसानोंके सामने रख दिया। बाक़ी सब खामोश रहे पर वह बूढ़ा बड़बड़ाने लगा। पता चला कि वह द्वारकानाथ की राय से सहमत नहीं है। ‘किसान बुरा सही उसकी जोरू भी बुरी सही, पर ये गीत किसी बैल ने थोड़ा ही बनाया है। बैल तो केवल बहाना है। सच पूछो तो ये गीत हमने अपनी बाबत बनाया है’—कुछ इस तरह का ख्याल उस बूढ़े किसान ने प्रकट किया।

फिर किसान स्त्रियों अपने पतियों के लिए खाना लेकर आ पहुँचीं। बूढ़े किसान ने मुट्ठी भर भात पास आ बैठे बैल के मुँह में डाल दिया तो उसकी जोरू लाल-पीली होकर बोली—“बड़ा आया है दयावान ! पहले अपनी भूख तो मिटा ले.....”



हिरनी की पुकार

एक बँगला लोकगीत है—हिरनी की पुकार। मुझे यह गीत बहुत पसन्द है। लोक-जीवन की जीवित और प्रत्यक्ष कविता का, जो हिन्दुस्तान के प्रान्त-प्रान्त में अनेक युगों से गूँजती चली आ रही है, यह एक सुन्दर नमूना है।

श्री दुर्गादास झाड़िड़ी ने सन् १९०५ में 'बाँगाजीर गान' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित किया था। इस पुस्तक का एक अध्याय है—'निरखर कविर गान' (निरखर कवि के गीत)। उसी में इस लोकगीत का समावेश हुआ है। मूल संग्रहकर्ता ने यह भी लिखा है कि यह गीत त्रिपुरा से मिला था—

हिरणी घास खाय
 शिकारी तामशा चाय
 आचम्बिते मारिलो शेलेर घा
 तखन हरिणी ब'ले रे
 कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
 बनेर हरिणी आमी
 कारो धार नाहि धारी
 रक्त मांस आमार जगतेर बैरी रे
 कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
 तोर जलार जल न खाई
 तोर बिलेर घास न खाई
 बिना दोशे बधिली आमार पराण रे
 कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे

न खायो आइलाम छायाआले दूध
 न देखिलाम तार चन्द्रमूख
 न कहिलाम स्नेह रसेर कथा रे
 कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
 मरि ताते दूख नाई
 किन्तु रे शिकारी भाई
 ऊपरे देबतार काछे कि दिबे जबाब रे
 कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
 जखन शिशु लुधाय जले
 काँदिबे 'मा ! मा !' ब'ले
 तार डाक देबतार बूके निश्चय वाजिबे रे
 कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
 संगेर संगीरा भाई
 कोइयो हरिणेर ठाई
 दूधेर शिशु राखिते जतने रे
 कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
 जन्मेर मतो देखा-शुना
 ब'लो तारे आर हवे ना
 फुराइलो सकल साध शिकारीर बाणो रे
 कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे
 कोन ना कामारे रे
 ए शेल गड़िलो रे
 तार बंश होक निरबंश रे
 कि शेल मारिली भाई तीरन्दाज रे

—'हिरनी घास चर रही है,
 शिकारी निशाना बाँध रहा है,
 अचानक उसने तीखे तीर से हिरनी को घायल कर दिया ।
 हिरनी कहती है—
 'कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज !
 मैं बन की हिरनी हूँ,
 किसी से कुछ डधार नहीं लेती,
 मेरा रक्त-मांस जगत् का बैरी हो गया रे !
 कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज !

धरती माती है

तेरे जलाशय का मैं जल नहीं पीती,
तेरे चरागाह का मैं घास नहीं चरती,
बिना कसूर ही मेरे प्राणों का वध कर डाला है रे !
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज !
न जी भर दूध पिलाया मैंने अपने बच्चे को,
न जी भर देख पाई उसका चौंद-सा मुखड़ा,
न जी भर कर पाई उसके साथ स्नेह की बातचीत ।
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज
मैं मर रही हूँ, इसका मुझे दुःख नहीं,
पर ओ शिकारी भाई,
उपर देवताओं के सामने क्या जवाब दोगे ?
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज !
जब मेरा शिशु भूख से जल उठेगा,
और रोयेगा 'माँ, ओ माँ !' कहकर
उसकी पुकार देवताओं के हृदयों में ज़रूर प्रतिध्वनित हो उठेगी ।
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज !
ओ संग की सखियो ! ओ भाइयो !
मेरे हिरन से कहना
वह दुधमुँहे शिशु को यत्न से पाले पोसे ।
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज !
जन्म भर दर्शन और आलाप,
उससे कहना, अब फिर नहीं होगा,
लो अब अन्त हुआ सब इच्छाओं का, शिकारी के तीर से ।
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज !
किस लुहार ने रे
बनाया था यह तीर ?
उसका वंश निरवंशी हो जाय !
कैसे तीखे तीर से घायल कर दिया है तुमने, ओ भाई तीरन्दाज !'

'हिरनी की पुकार' के शब्द एकदम नपे-तुले हैं । शिकारी, जो अपने तीखे तीर से हिरनी को घायल कर देता है, कुछ नहीं बोला । हिरनी उसे 'ओ भाई तीरन्दाज !' कहकर सम्बोधित करती चली गई है । उसके हृदयस्पर्शी बोल लोकगीत-सुलभ जीवित करुण-रस में सने हुए हैं । और ठीक बात तो यह है कि हिरनी के शब्दों में जनता की अपनी आप-बीती अभिव्यक्ति पा उठी है ।

एक संस्कृत कवि ने, जिसका नाम इतिहास को मालूम नहीं, एक शिकारी के जाल में फंसी हिरनी का करुण पुकार अपने एक श्लोक में पिरो डाली थी—

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमंगात्
मां मु'च ! वागुरिक ! याहि कुरु प्रसादम् ।
अद्यापि घासकवलप्रसनानभिज्ञो
मनमार्गवीक्षणपरस्तनयो मदीयः ॥

—‘स्तनों के पलावा सारे शरीर से मांस लेकर मुझे छोड़ दो

ओ शिकारी इतनी मेहरबानी करो ।

मेरा बेटा, जो अभी घास के घास खाना नहीं जानता,

मेरी बाट जोहता होगा !’

हिरनी का एक हिन्दी लोकगीत ‘रुण-रस के बड़े-मे-बड़े काश्य से टक्कर खाने की हिम्मत रखता है । इसे ‘सोहर’ गीतों की बिरादरी में स्थान मिला है । पुत्र जन्म के शुभ अवसर पर यह गीत क्यों गाया जाता है, यह बात मेरी समझ में नहीं आई । बहुत सम्भव है, गली-मुहल्ले की स्त्रियाँ, खुशी की मस्ती में इस गीत की दुःखान्त भाँकी की ओर अधिक ध्यान न देती हों; पर कोई-कोई छी तो ऐसी भी जरूर रहती होगी, जो हिरनी का करुण जीवनी में अपने ही जीवन की समस्त वेदनी की मूर्ति पा लेती हो—

छापक पेड़ छिउलिया
तौ पतवन गहबर
अरे रामा तिहितर ठाढ़ी हरिनियाँ
त मन अति अनमनि हो
चरतै चरत हरिनवाँ
तौ हरिनी से पूँछइ हो
हरिनी की तोर चरहा भुरान
कि पानी बिन मुरझिउ हो
नाहीं मोर चरहा भुरान
न पानी बिन मुरझिउँ हो
हरिना ! आज राजाजी के छट्टी
तुहँ मारि डरिहइँ हो
मचियै बैठी कौशिक्या रानी
हरिनी अरज करइ हो
रानी ! मसुवा तौ सिक्की रसोइया
खलरिया हमैं देतिउ
पेड़वा से टँगवइ खलरिया

धरती माती है

त मन समझाउब हो
रानी ! हेरि फेरि देखबइ खलरिया
जनुक हरिना जीतइ हो
जाहु हिरनी घर अपने
खलरिया नाही देबइ हो
हरिनी ! खलरी क खँजड़ी मिदउबइ
त रामा मोर खेलिहइ हो
जब-जब बाजइ खंजड़िया
सबद सुनि अनकइ हो
हरिनी ठाढ़ि ठँकुलिया के नीचे
हरिन क बिसूरइ हो

—‘ढाक का छोटा सा पेड़ है एक

घने पत्तों से लहलहाता ।

अजी ओ राम ! उसके नीचे एक हिरनी खड़ी है,

उसका मन बहुत अनमना है ।

चरता-चरता हिरन

हिरनी से पूछ रहा है—

‘री हिरनी ! तेरा चरागाह सूख गया है क्या ?

या पानी बिना मुरझा गया है तेरा मन ?’

‘न मेरा चरागाह ही सूखा है,

न पानी बिना मुरझाया है मेरा मन

ओ हिरन ! आज राजाजी के घर में नवजात पुत्र की छठी है,

राजा के शिकारी तुम्हें मार डालेंगे ।’

मचिया पर बेठी है रानी कौशल्या

हिरनी अर्ज कर रही है—

‘रानी ! मेरे हिरन का मांस तो सोंभ रहा है आपकी रसोई में,

हिरन की खलड़ी मुझे दिलवा दो ।

पेड़ से टॉंग दूँगी मैं यह खलड़ी

धूम फिर कर उसकी ओर देखा करूँगी

रानी ! देख-देखकर मन को समझा लूँगी,

जैसे हिरन जीता ही हो ।’

‘जा, ओ हिरनी, अपने घर

खलड़ी मैं न दूँगी

ओ हिरनी ! खलड़ी से खंजड़ी मढ़वाईगी,
मेरा राम खेला करेगा उससे ।'
जब-जब खंजड़ी बजती है,
उसका शब्द सुनकर हिरनी कान खड़े कर लेती है ।
हिरनी, ढाक के नीचे खड़ी होकर
हिरन को याद करती है ।'

कौशल्या और राम के नाम इस गीत में क्यों पिरोये गये हैं, इसकी भीमांसा सहज नहीं । ऐतिहासिक नामों को लोक-जीवन की धरती पर उतारने की मनोवैज्ञानिक धारा बहुत पुरानी प्रतीत होती है । ग्रामों में घर-घर सास-ससुर में कौशल्या और दशरथ की कल्पना की गई है । फिर हर माँ अपने शिशु में बालक राम की तस्वीर देख ले, यह कोई अमहोनी बात नहीं । प्रान्त-प्रान्त में गृहस्थी के गीतों में राम, सीता और लक्ष्मण तो किसानों में शामिल हुए हैं, पर इस गीत में बेरहम नारी के रूप में कौशल्या की भावना एक असंगत प्रवृत्ति है ।

'कविता-कौमुदी ग्राम-गीत में इस गीत की विवेचना करते हुए श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—“हिरनी हिरन की खाल इसलिए माँगती थी कि वह उसे देख-देखकर हृदय को ढाड़स देगी और 'हिरन जीता है' इस भ्रम को सत्य समझ कर एक कल्पित सुखका अनुभव करेगी । मनुष्यों में कितनी ही ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो अपने मृत पति या पुत्र की चीजें बड़ी सावधानी से रख छोड़ती हैं और एकान्त में उन्हें देख-देखकर एक अद्भुत प्रकार का सुख अनुभव किया करती हैं । अन्त में हिरन की खाल की खंजड़ी बनी । खंजड़ी जब बजती थी, तब उसकी ध्वनि से हिरनी के हृदय में प्रेम का एक इतिहास जाग्रत होता था, और वह उसी इतिहास में लय हो जाती थी । ...गीत की हिरनी की मूक वेदना मनुष्य के हृदय को हिला दे सकती है । यहाँ हिरनी के बदले किसी सहृदया स्त्री ने अपना चित्र लाकर खड़ा कर दिया है ।”

एक दूसरे सोहर गीत में, फिर एक बार हम एक हिरनी का मन उदास पाते हैं । सीता गर्भवती है । आज सीता के पुत्र होगा । इस खुशी में हिरनी के प्यारे जीवन-संगी को लक्ष्मण खोजने आयागा, और राजा का बहेलिया हिरन को मार डालेगा । फिर हम देखते हैं कि हिरनी कौशल्या के पास जाकर हिरन के प्राण बचा लाती है । यहाँ कौशल्या के मुख से जो शब्द कहलाये गए हैं, वे आदर्श प्रेम में पगे हुए हैं । इस सुन्दर गीत के संग्रह का श्रेय भी श्री रामनरेश त्रिपाठी को प्राप्त है—

छोट मोट पेड़वा ठकुलिया
त पतवा रे लहालही हो
रामा ! ताहा तर ठाढ़ि रे हिरनिया
हरिन बाट जोहइ हो

छरती गायत्री है

बन में से निकलेला हरिना
त हरिनी से पूँछले हो
हरिनी काहे तोर बदन मलीन
काहे मुँह पीअर हो
गइलों में राजा के दुअरिया
त बतिया सुन अइलों हो
प्यारे आजु छोटे राजाक बहेलिया
हरिन मरवइहइ हो
केइ जे बगिया लगवले
केइ रे आए ढूँढ़ले हो
हरिनी केकर धनिया गरभ से
हरिन मरवावले हो
दशरथ बगिया लगवलें
लखन आये ढूँढ़ले हो !
प्यारे रघुवर धनिया गरभ से
हरिन मरवावले हो
कर जोड़ो हरिनी अरज करे
सुन कौशल्या रानी हो
रानी सीता के होइहैं नन्दलाल
हम ही कुछ दीहव हो
सोनवा मदइयां दुहु सिंगवा
भोजनवा तिल-चाउर हो
हरिनी भुगतहु अयोध्या के राज
अभै बन बिचरहु हो

—‘छोटा-मोटा ढाक का एक पेड़ है

पत्तों से लहलहा रहा है वह ।

ओ राम ! उसके नीचे खड़ी है हिरनी,

वह हिरन की बाट जोह रही है ।

बन में से निकला हिरन

उसने हिरनी से पूछा—

‘हिरनी, किस लिए तेरा वदन मलीन है ?

किस लिए मुँह पीला पड़ गया है ?’

‘राजा के द्वार पर गई थी मैं,

वहां से बातचीत सुन आई हूँ ।
 ओ प्यारे ! आज छोटे राजा अपने बहेलिये से
 हिरन को मरवा डालेंगे ।'
 'किसने बारा लगवाया ?
 कौन मुझे ढूँढ़ने आया ?
 हिरनी ! किसकी युवती स्त्री गर्भवती है
 कि हिरन को मरवा डालेंगे ?'
 'दशरथ ने बाग लगवाया
 लक्ष्मण तुझे ढूँढ़ने आया,
 ओ प्यारे, रघुवर की युवती स्त्री गर्भवती है
 उन्हीं के लिए हिरन को मरवा डालेंगे ।'
 हाथ जोड़कर हिरनी अज्ञ कर रही है—
 'सुनो, कौशलया रानी !
 राती सीता के पुत्र होगा, आज मुझे कुछ दो ।'
 'सोने से मढ़ाऊँगी तेरे हिरन के दोनों सींग,
 खाने को दूँगी तिल और चावल ।
 हिरनी ! अयोध्या का राज भोग
 निर्भय होकर बन में विचरो ।'

हिरन बच गया । यही बस है । हिरन के सींग सचमुच सोने से मढ़े गए थे या नहीं,
 इसकी हमें परवाह नहीं । एक व्यापक अनुभूति, जो कौशलया की वाणी में यहाँ मौजूद है,
 हमें यह विश्वास दिलाती है कि जीवन में दया और हमदर्दी ने अपना स्थान एकदम गँवा
 नहीं दिया है ।

शिमले की पहाड़ियों में तथा पंजाब के काँगड़ा ज़िले में हिरन का एक करुण गीत
 बहुत प्रचलित है । एकाएक हिरन अपनी गौरवपूर्ण बात कहने लगता है—

चुगदा चुगेंदा हिरनू बोलदा
 मीयाँ हेड़ीआ वो
 संगोटू ताँ मेरे कुसी साधे जो देयाँ
 साधे सन्ते जो देयाँ
 जेहड़ा दुर-दुर बजावे नाद
 मीयाँ हेड़ीआ वो
 खल्लडू ताँ मेरा कुसी परडते जाँ देयाँ
 परडते पाधे जो देयाँ
 जेहड़ा बैठे आसन लाई के

मीयाँ हेड़ीआ वो
 अख्खी ताँ मेरीयाँ कुसी राणिणँ जो देया
 राणिणँ सुन्दराँ जो देआँ
 जेहड़ी रखे बन्बिया पाई के
 मीयाँ हेड़ीआ वो
 लत्ताँ ताँ मेरीयाँ कुसे घोड़े जो दैयाँ
 घोड़े बाँके जो देयाँ
 जेहड़ा रण विरुच पावे जीत
 मीयाँ हेड़ीआ वो

—‘चरता-चरता हिरन कहता है—

‘ओ मियाँ शिकारी !

मेरे सींग तो किसी साधु का देना

साधु या सन्त को देना,

जो दुर-दुर नाद बजावेगा ।

ओ मियाँ शिकारी !

खलड़ी तो मेरी किसी पण्डित को देना

पण्डित या उपाध्याय को देना,

जो उसपर आसन लगाकर बैटेगा ।

ओ मियाँ शिकारी !

आँखें तो मेरी किसी रानी को देना

रानी या सुन्दर नारी को देना,

जो उन्हें डबिया में डाल कर रखेगी ।

ओ मियाँ शिकारी !

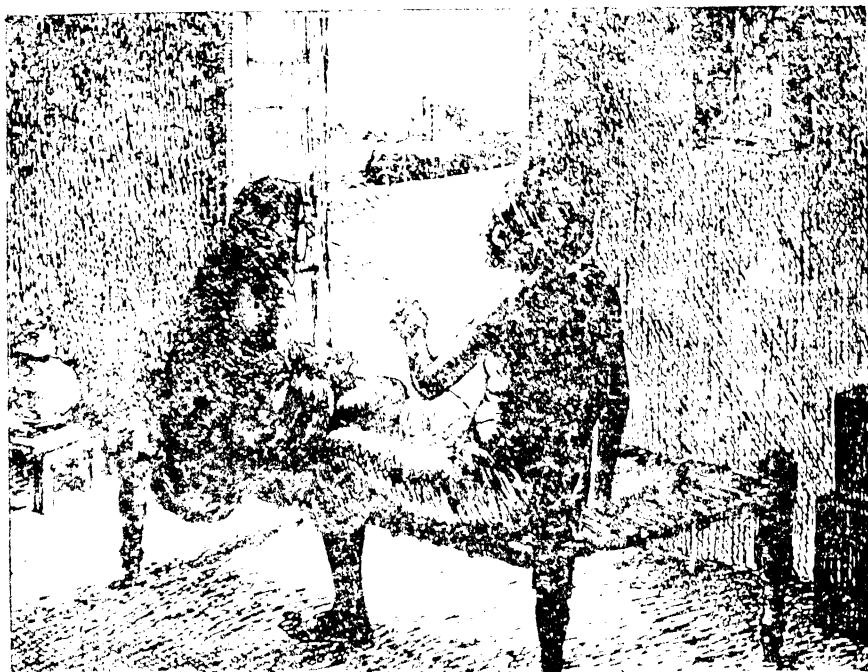
टाँगें तो मेरी किसी घोड़े को देना

बाँके घोड़े को देना,

जो रण में विजय प्राप्त करेगा,

ओ मियाँ शिकारी !’

शिकारी को सम्बोधन करके हिरन ने जो बातें कहीं हैं, वे हमारे हृदय में सहानुभूति जगा देती हैं, शिकारी पर इनका क्या असर हुआ था, गीत में यह बात नहीं आई । एक किंवदन्ती यह है कि शिकारी ने हिरन की जान नहीं ली थी । शुरू में हिरन तीर से घायल होकर चलने से रह गया था, या जाल में फँस गया था, यह सब हम नहीं जान पाते । हिरन और हिरनी जनता के प्रतीक हैं । जनता अपनी आशा और निराशा की गाथा युग-युग से गाती आरही है ।



रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी

पूरब से रेल आ गई, पच्छिम से जहाज। गांव की गोरी स्टेशन पर अपने पति को किसी सुदूर नगर के लिए विदा करने आई है। न जाने फिर कब भेंट हो। रेलगाड़ी एक ओर से आई और बस देखते-देखते गाँव के बेटे को लेकर चलती बनी। और गोरी को ओर तो देखो। आँखों का काजल गालों पर ठलक आया। न जाने वह कब तक स्टेशन के बाहर खड़ी रहेगी। रेल के प्रति एक विषैली ईर्ष्या भड़क रहा है.....रेल गोरी के पति को ले नहीं गई, बल्कि 'लाद' ले गई—सौत जो हुई ! 'सौत' शब्द रेल के प्रति घोर नफ़रत का ज्वलन्त प्रतीक है। फिर गोरी सोचती है कि न रेल बैरी है न जहाज, असल में बैरी तो पैसा है जो अपनी तलाश में आदमी को देश-देश में भटकने पर मजबूर करता है। न उसने घर के लिए पैसा माँगा होता, न पति बेचारा कहीं बाहर गया होता। मन-ही-मन पति से बातें शुरू कर देती है—मुझे भूख नहीं लगती, न प्यास लगती है। मुझे तो सिर्फ तुम्हारा 'मोह' लगा करता है। मुझे तृप्त करने के लिए न अन्न चाहिए न जल, बस तुम्हारी सूरत नज़र आती रहे.....फिर कहती है—सेर भर गोहूँ पूरे साल भर खाती रहूँगी, थोड़ा-थोड़ा करके। अपने प्रीतम को बाहर न जाने दूँगी, अपनी आँखों के कुजूर में रखूँगी। प्रीतम के शब्द उसके कानों में गूँजते हैं—'रेलिया न बैरी, जहजिया न बैरी, उधे पइसवै बैरी हो !' और शायद एक हूक के साथ वह कह उठती है—हाथ पैसा बैरी ! और गाती है—

पुरुबु से आई रेलिया
 पक्किउँ से आई जहजिया
 पिया के लादि लेइ गइ हो—
 रेलिया होइ गइ मोर सवतिया
 पिया के लादि लेइ गइ हो !
 रेलिया न बैरी, जहजिया न बैरी
 उहै पइसवै बैरी हो—
 देसवाँ-देसवाँ भरमावै
 उहै पइसवै बैरी हो !
 भुखिया न लागै, पिअसिया न लागै,
 हमके मोहियै लागै हो—
 तोहरी देखि के सुरतिया
 हमके मोहियै लागै हो !
 सेर भर गोहुंआ बरिस दिन खइवै
 पिया का जाइ न देवै हो—
 रखवै अखिया के हजूरवाँ
 पिया का जाइ न देवै हो !

यही वह गीत है जिसने श्री रामनरेश त्रिपाठी को लोकगीत-ग्रंथ की ओर प्रेरित किया। वे लिखते हैं—“मैं जौनपुर से प्रयाग आ रहा था। स्टेशन पर कुछ स्त्रियाँ जो संभवतः अहीर या चमार जाति की थीं, कुछ मर्दों को जो कलकत्ते जा रहे थे, पहुँचाने आई थीं.... ट्रेन स्त्रियों को रोती हुई छोड़ कर चल दी। कलकत्ते जाने वाले मर्द संयोग से थर्ड क्लास के उसी बिन्बे में आ बैठे थे जिस में मैं था। उनके साथ दो तीन स्त्रियाँ भी थीं, जो अपने पतियों के साथ या कलकत्ता-प्रवासी पतियों के पास कलकत्ते जा रही थीं।

“युक्त प्रांत में, खासकर देहातों में, स्त्रियाँ मौके-बेमौके बड़ी बुरी तरह रोती हैं। देहाती मेलों में जाकर देखिए तो सैकड़ों स्त्रियाँ एक दूसरे का गला पकड़े हुए रोती मिलेंगी। रोने के उनके स्वर तो भिन्न-भिन्न होते ही हैं, वे रोती-रोती कुछ कहती भी जाती हैं। ध्यान देकर सुनने से उनके रुदन में और कथन में बड़े-बड़े दुःखों का वर्णन, उनकी अन्त-ज्वालाओं का इतिहास और अनेक मार्मिक पीड़ाओं से पैदा हुआ हाहाकार सुनने को मिलेगा.....

“जब कोई व्यक्ति कमानेके लिए विदेश जाने लगता है, तब भी स्त्रियाँ चिंछा-चिंछा कर, अपनी निर्बलता का चित्र खींच-खींच कर और कुटुम्ब के मृत व्यक्तियों की याद दिखाने-दिखा कर रोती हैं..... जिस समय गार्ड सीटी बजाता है, उस समय ट्रेन के जल्दी चले जाने का भय स्त्रियों में विरह-वेदना उत्पन्न कर देता है और वे जोर-जोर से रोने लगती

पारती गायी है

हैं। अन्त में झाँवर का एक हाथ दोनों पार्टियों को दूर दूर करके उन्हें स्मृतियों के स्वप्नों में छोड़ देता है।.....पहले आवागमन के मार्ग आज कल की तरह सुरक्षित और सुगम नहीं थे। जंगल और नालों में चोरों और ठगों के गरोह डेरा डाले रहते थे। वे यात्रियों का धन ही नहीं, प्राण भी हरण कर लेते थे। उस समय जीविका की तलाश में जो व्यक्ति घर से निकलता था, वह यह सोच कर जाता था कि लौटें या न लौटें। दस-दस, बारह-बारह वर्ष लोग कमाते रहते थे, तब कहीं लौटते थे। रोगों से और ठगों से जो लोग मर जाते थे, उनका उनके घर वालों को पता ही नहीं चलता था। घर लौट आना पुनर्जन्म के समान समझा जाता था। इन्हीं कठिनाइयों के कारण उन दिनों विदेश या परदेश की सीमा बहुत संकुचित थी। दस-बीस कोस के फासले पर भी जो लोग कमाई करने जाते थे, उनकी भी लोग कहा करते थे कि परदेश गए हैं। रेज, तार, सबकों और सुप्रबन्ध ने अब विदेश और परदेश शब्दों को हिमालय से उत्तर, लंका से दक्षिण, ब्रह्मा से पूर्व और बलोचिस्तान से पश्चिम तक ढकेल दिया है। आजकल लोग ४८ घण्टों में हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आते जाते हैं। पर स्त्रियों ने अभी तक पुराने विदेश और परदेश को नहीं छोड़ा है.....किती ने उनको अभी तक बताया नहीं कि समय बहुत आगे खिसक गया है। अब रोने की ज़रूरत नहीं है। वे बेचारी अठारहवीं शताब्दी ही में खड़ी रो रही हैं.....

“परदेशियों की स्त्रियों ने गाना शुरू कर दिया.....एक ही कड़ी मुँहे याद है—‘रेलिया सवति मोर पिया लइके भागी’ रेल की तुलना सौत से होती सुनकर मैं चौंक उठा.....कई सौ वर्ष पहले रहीम ने स्त्रियों की तरफ से एक भरवा कहा था जिसमें सौत की तुलना हंसिनी से की गई.....‘पिय सन अस मन मिलयू’, जस पय पानि : हंसिनी भई सवतिया, लइ बिलगानि।’ इसमें हंस हंसिनी का विशेष गुण—सो भी कवियों के कथनानुसार, पत्नी विद्या-विशारदों के कथनानुसार नहीं—मिले हुए पं और पानी को अलग कर देने पर लप्य करके विचार बाँधा गया है। हंसिनी के इस कल्पित गुण को जानने वाले सहृदय रसिकजन ही इस भरवे को सुनकर सिर हिला सकते हैं। पर रेल तो प्रत्यक्ष सौत का-सा कार्य करती है। वह पति को लेकर भाग जाती है। भागना धर्म दोनों का एक सा है। मुझे गीत रचने वाली के हृदय की सरसता बड़ी मधुर जान पड़ी। बस इसी घटना के बाद से मैं ग्राम-गीतों के संग्रह की ओर आकर्षित हुआ हूँ।”

गांव की गोरी के ये भाव पालकी उठाकर चलने वाले कहारों ने अपने स्वरों पर उठा लिए।

यह उनका ‘कहरवा’ है। अब तो इसे सभी गा लेते हैं, पर शुरू में कहारों ने ही जैसा कि इसके नाम से जाहिर है, इसे जन्म दिया था।

कुछ कहार पालकी उठाये जा रहे हैं। उनके कन्धों पर घट्टे पर गये हैं। पेट खाने को माँगता है। घट्टों की कहाँ तक परवाह की जाय? पैरों के द्रुतवेग से कड़वा के लहरे

धरती माती है

छोड़ते वे भागे चले जा रहे हैं। उठाये लिए जा रहे हैं पालकी, और उनका मन चित्रित कर रहा है उसी दुलहिन का हृदय जिसे आज उन्होंने उसके ससुराल में पहुँचाने की जिम्मेदारी ले रखी है। उन्होंने ऐसी अनगिनत दुलहिनों को एक गाँव से दूसरे गाँव तक पहुँचाया है। दुलहिन भी पालकी में बैठी यह गीत सुनती है—खास अपना गीत..... 'रेलिया होइ गई मोर सवतिया, पिया के लादि लेइ गई हो !'.....और फिर वह सोचती है—'रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी, उहै पइसवै बैरी हो !'

पालकी का परदा उठाकर वह क्षितिज की ओर देख लेती है। पालकी चली जा रही है। मायके का गाँव बहुत पीछे रह गया। ससुराल का गाँव अब आया ही चाहता है.....अब तो कहार थक गए होंगे। यह गीत न हो तो कैसे कोई यह भार ढो सके ? यह स्वतः सुन्दर गीत, क्षितिज को छूता हुआ। प्रत्येक गीत में इतनी शक्ति कहाँ से आयोगी ?

जब सन्नाटे को चीरते हुए कहार फिर से यही गीत छेड़ देते हैं, शायद गोरी के लज्जिले स्वर भी उनके साथ सम्मिलित हो जाते हैं।



नाचता गाता नेपाल

: १ :

हिमाल की दक्षिणी ढलवानों पर हिम-मण्डित गिरि-शिखरों के नीचे बसा हुआ नेपाल किसी वयोवृद्ध सन्त के धबल जटा-जूटके नीचे शुभ्र प्रशस्त लज्जाट-सा दीख पड़ता है। प्रकृति की गोद में बसे हुए नेपाली ग्राम दूर से देखने में किसी कलाकार के द्वारा अंकित चित्रों-से प्रतीत होते हैं।

यहां के जीवन-ढाँसव तक नवीन सभ्यता का गर्द-गुबार नहीं पहुँचा। क्योंकि इस जनपद के निवासियों की चिरन्तन सरलता और सहृदयता पुरातन संस्कृति की प्रतीक है।

नेपाल संगीतमय है। वहाँ सभी मुखरित हो उठते हैं। जाड़े में हिमालय की बर्फ़ीली हवाई और ग्लेशियर रागकी सृष्टि करते हैं, वसन्त में वृक्षों पर बसने वाले असंख्य पक्षी अपने कलरव से उपत्यकाओं को कूजित करते हैं। वर्षा में बार दिन के अतिथि बादल अपना मेघ महहार सुनाने के लिए फेरी लगाया करते हैं। नेपाल के अग्रणी करने और जल-प्रपात बारहों महीने, दिन-रात, अविराम गति से अपने कल-कल रव से समूचे प्रान्तर को निनादित करते रहते हैं। इन सबके साथ स्वरमें स्वर मिलाकर नाचता-गाता है नेपाल। नेपाल शब्द का प्रयोग पहले केवल नेपाल की उपत्यका के लिए ही होता था, पर अब यह समस्त देश

धरती गाती है

को व्यक्त करता है। नेपाल के पश्चिम में काली नदी बहती है, पूर्व में शिकिम तथा बंगाल की सीमाएं हैं, उत्तर में तिब्बत है, और दक्षिण में युक्त-प्रान्त तथा बिहार। यहाँ का क्षेत्रफल ५४,००० वर्ग-मील के करीब है और यहाँ की जन-संख्या कोई छप्पन लाख होगी।

नेपाल को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१ तराई

यह भाग सागर-तल से थोड़ा ही ऊँचा है, और नेपाल का दक्षिणी अंचल इस में आ जाता है। अत्यधिक नम और दलदल होने के कारण यहाँ प्रायः मलेरिया का प्रकोप रहता है।

२ उपत्यकाएँ

३ पार्वत्य-प्रदेश

समुद्र-तल से यहाँ की ऊँचाई कोई ४,००० से १०,००० फुट तक है।

४ हिमालय-खण्ड

प्रत्येक ऋतु यहाँ के जन-साधारण की आत्मीय विभूति बन गई है।

प्रत्येक ऋतु का अपना महत्व स्वीकार किया जाता है। वसन्त में नेपाल के सामाजिक जीवन में नवीन जाग्रति और स्फूर्ति का संचार हो जाता है। गीतों तथा नृत्यों द्वारा लोग वसन्त का स्वागत करते हैं। उधर वर्षा ऋतु में समस्त नेपाल मेघों के गीत गाता नज़र आता है।

नेपाल हिन्दुत्व प्रधान प्रदेश है। यहाँ स्वतन्त्र हिन्दू-सम्राट का आधिपत्य है। पर यहाँ अनेक जातियाँ बसती हैं; ब्राह्मण, क्षत्रिय, ठाकुर, नेवार, गुरुंग, मगर, लिम्बू, राई, सुनवार तथा थारु उल्लेखनीय हैं। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा ठाकुरों की मातृभाषा नेपाली है। अन्य जातियों की अपनी-अपनी भाषाएँ हैं।

नेपाली भाषा का मौलिक नाम गोरखाली है। इधर कई वर्षों से यह नेपाली के रूप में लोकप्रिय हो रही है। दार्जिलिंग के नेपाली साहित्य-सम्मेलन ने इसके लिए बहुत आन्दोलन किया है।

गोरखा नामक स्थान नेपाल की राजधानी काठमाण्डु से कुछ मील दूर है। सन् १८१६ में वर्तमान नेपाल-सम्राट के वीर पूर्वज महाराजा द्रव्यशाह ने 'गोरखा' नामक छोटी-सी रियासत के राजा को जीत कर आज के स्वतन्त्र गोरखा राज्य की नींव रखी थी। तभी से गोरखा-साम्राज्य के साथ-साथ नेपाली भाषा तथा साहित्य का विकास आरम्भ हुआ। अब नेपाली ही नेपाल की राज-भाषा है।

गोरखा-राज्य के स्थापित होने के पूर्व नेपाल के तीनों-के-तीनों नगर—काठमाण्डु, पाटन तथा भाटगाँव—तीन पृथक-पृथक किन्तु स्वतन्त्र नेवार रियासतों की राजधानियाँ थे। इन नेवार रियासतों तथा अन्य अनेक छोटी-छोटी पहाड़ी रियासतों पर धीरे-धीरे महाराजा द्रव्य-शाह के वीर उत्तराधिकारियों ने विजय प्राप्त की और गोरखा-साम्राज्य को विशाल रूप

दिया। नेवार अब नेपाल की उपत्यका में ही बसे हुए हैं। वे कला-प्रेमी हैं। स्थापत्य-कला में उन्होंने अपने अच्छे दिनों में खासी उन्नति कर ली थी। गृह-शिल्प, कृषि तथा व्यापार उनके प्रमुख कार्य हैं। प्राचीन काल में नेवार जाति साहित्य-प्रेमी रही है। नेवारी भाषा की सर्व-प्रथम पुस्तक चौदहवीं शती में लिखी हुई बताई जाती है। स्टैन कोनो के कथना-नुसार ग्यारहवीं शती के पूर्व ही नेवारी भाषा में पुस्तकें लिखी जाने लगी थीं। काठमाण्डु के राज्य पुस्तकालय में नेवारी भाषा के अनेक पुरातन हस्त-लिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं। जब से नेवारी राज-भाषा के पद से च्युत हुई, स्वयं नेवारों में भी अपनी भाषा तथा इसके साहित्य के प्रति उदासीनता बढ़त चली गई है।

नेवार हिन्दू भी हैं और बौद्ध भी। हिन्दू नेवार शिव-मार्गी और बौद्ध नेवार बौद्ध-मार्गी कहलाते हैं। इनमें परस्पर एक दूसरे के प्रति घृणा का भाव बहुत कम रहता है।

नेवारी जीवन में उत्सवों की कृष् भी कमी नहीं। त्यौहार के लिए वे यात्रा शब्द का प्रयोग करते हैं। भैरव-यात्रा, गाय-यात्रा, इन्द्र-यात्रा, छोटी तथा बड़ी मछिन्द्र-यात्रा और रथ-यात्रा—ये इनके विशेष उत्सव हैं। हिन्दू और बौद्धधर्म इन यात्राओं में घुल-मिल गए हैं। यह कहना कठिन है कि किस उत्सव में हिन्दुत्व प्रधान है और किस में बौद्ध-धर्म। गीत और नृत्य इन उत्सवों में विशेष स्थान रखते हैं।

: २ :

नेपाली के अतिरिक्त नेपाल की किसी भी भाषा या उप-भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई। विभिन्न भाषा-भाषी लोग एक दूसरे की बात नहीं समझते। पर नेपाली भाषियों के संसर्ग में अनेक लोग नेपाली सीखते जा रहे हैं। इस प्रकार आवश्यकता पड़ने पर नेपाली उनकी सम्मिश्रित भाषा का काम देती है। अनेक स्त्री-पुरुष तो अपनी निजी कोष्ठियों को एकदम तिलांजलि दे रहे हैं और उनके स्थान पर राज-भाषा नेपाली को अपना रहे हैं।

नेपाल को मेलों तथा साप्ताहिक हाट-बाजारों का देश कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इन मेलों तथा हाट-बाजारों के लिए प्रायः दो नदियों के संगम के समीप के स्थान उपयुक्त समझे जाते हैं। इन अवसरों पर दूर-दूर की जनता जुटती है। व्यापार की प्रधानता तो रहती ही है। पर संस्कृति का विनिमय भी चलता है।

गीत और नृत्य इन अवसरों पर नेपाल के सामाजिक आनन्द को प्रस्फुटित कर देते हैं। विभिन्न जातियों के नर-नारी एक दूसरे के गीतों को कण्ठस्थ कर लेते हैं और उनके नृत्य भी सीख लेते हैं। इन नवीन गीतों तथा नृत्यों को सीखकर अपने-अपने ग्राम में लौटने पर लोग इनका प्रदर्शन करने से नहीं चूकते।

गुरुंग मध्य-नेपाल के निवासी हैं, वे प्रायः चरवाहे हैं और अत्यन्त नृत्य-प्रेमी। ग्राम के मुखिया के घर से ही सटी हुई इनकी नृत्यशाला होती है जिसे ये लोग रोड़ी-घर कहते हैं। फसल पकने के दिनों में रोड़ी-घर में एक लोक प्रिय 'सोरठी' नृत्य की बहार

धरती माती है

रहती है। इस नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीत भी 'सोरटी' के नाम से ही विख्यात हैं।

जिस वर्ष फसल अच्छी होती है 'रोड़ी-घर' के गीतों और नृत्यों पर नया यौवन आ जाता है। नृत्य-शाला का द्वार केवल युवकों और युवतियों के लिए ही खुला रहता है। एक स्वर होकर गाते-गाते तथा ताल ३ एक सूत्र में बँध कर नाचते-नाचते युवकों और युवतियों को एक दूसरे से परिचित होनेके तथा प्रेम-प्रदर्शन के अवसर प्राप्त होते हैं। सोरटी गीत प्रायः प्रेम, सौंदर्य तथा यौवन-मद के उद्गारों से ओतप्रोत होते हैं। इन गीतों में स्त्री-पुरुषों के मनोविज्ञान के चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। गुरुंग भाषा के गीतों के साथ-ही-साथ प्रायः यहाँ नेपाली गीतों का भी चलन है। और गुरुंगा नृत्यों के साथ-साथ नेपाली नृत्य भी लोकप्रिय हो रहे हैं।

लिम्बू पूर्वी नेपाल में बसे हुए हैं। इनके यहाँ दो प्रकारके गीत अधिक प्रचलित हैं—'जय-बरी' और 'हाक-पारा'। नेपाली भाषा-भाषियों से दूर रहने के कारण ये लोग नेपाली गीत नहीं सीख पाते। अतः अपनी निजी भाषा में ही गाते हैं।

लिम्बू युवक-युवतियों में गीतों की प्रतियोगिता भी होती है। इन गीतों की तुलना प्राचीन यूरोप के चरवाडों तथा चरवाहिनों के गीतों से या वहाँ की संगीत-शालाओं के ड्रुट (दो गाना) गीतों से की जा सकती है। नेपाली भाषा के 'जुबारी गीत' भी इसी प्रकार के होते हैं। लिम्बू युवती एक प्रेम-गान गाती है, जिसके उत्तर में युवक भी गा उठता है। इस प्रकार घंटों तक गीतों का दंगल चलता रहता है। युवक जीत जाय तो वह उस युवती को अपनी वधू बनाने के लिए बाध्य करना अपना अधिकार समझता है। और यदि वह हार जाय तो एक खिलाड़ी की भाँति वह किसी अन्य युवक को उस कन्या से होइ लेने का अवसर देता है। इस प्रकार जो युवक उस युवती को हरा दे वही उसके साथ विवाह कर लेता है। कितने ही लिम्बू गीतों के साथ-साथ नृत्य का भी चलन है। लिम्बू प्रायः दो प्रकार के होते हैं—'लॉंगमा' तथा 'के-लॉंगमा'।

नेपाली-भाषा-भाषियों में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनकी उदर-पूर्ति ही गीतों द्वारा होती है। इन्हें यहाँ 'गाइने' कहते हैं। इनकी स्त्रियाँ नहीं गातीं। (मेजर ब्रक तथा कैपटन नौर्दे द्वारा लिखित 'दी गुर्खाजि' नामक पुस्तक में पृष्ठ ११० पर लेखकों ने भूल से 'गाइने' शब्द के स्थान पर 'गाईनी' छपा है। और इसे ईकारान्त मानकर लिख दिया कि ये स्त्रियाँ हैं। यह ठीक नहीं है।) केवल पुरुष ही स्वयं अपने हाथों से तैयार की हुई सारंगी लिये फेरी लगा-लगाकर गाते हैं। इनकी सारंगी हिन्दुस्तानी सारंगी से भिन्न होती है। 'गाइने' संगीत-सुधा बरसा कर लोक-जीवन के वातावरण को स्निग्धता प्रदान करते हैं। पर खेद है कि उन्हें अछूत समझा जाता है। एक नेपाली लोकोक्ति में उनके महत्व का कुछ आभास देखकर हम खुश हुए बिना नहीं रह सकते—'खाने चावल छैन, लॉउँछो सारंगी की तान्ती।' अर्थात् 'खाने को तो घर में चावल तक नहीं, फिर भी वह अपने पीछे सारंगियों की पंक्ति लिये हुए है।' इससे यह बात अच्छी तरह फलकती है कि नेपाल में वे प्राणी भी जो इतने

गरीब हैं कि इन सारंगी वाले गाइनों को कुछ दे नहीं सकते, उनके गीत सुनने के लिए आकुल रहा करते हैं।

: ३ :

अतु और समय-क्रम से नेपाली गीतों के अनेक भेद हैं। बहुत से गीत तो गाने-वालों के धन्धों तथा उनकी जातियों के अनुसार एक दूसरे से पृथक् हैं।

इन गीतों के मुख्य भेद ये हैं—

१ भयारो गीत

नेपाली भाषा में 'भयारो' शब्द का अर्थ होता है 'दुबला-पतला'। बीमार और कमजोर व्यक्त से प्रायः प्रश्न किया जाता है—'किन भयारो भये ओ ?' अर्थात् 'दुबले क्यों हो गए हो ?'

२ सवाई गीत

इनमें कोई-न-कोई कथा रहती है।

३ मालसिरी गीत

ये दुर्गा-पूजा के दिनों में गाये जाते हैं। मां दुर्गा की विजय-यात्रा का इनमें अत्यन्त रोचक चित्रण रहता है।

४ भैलौ तथा देउसी गीत

ये वे पद हैं, जिन्हें गरीब घरों के लड़के-लड़कियाँ दीपावली की खुशी में द्वार-द्वार जाकर मिठाई के लिए याचना करते समय गाते हैं।

५ जुबारी गीत

भयारो गीतों के समान ही ये भी चार-चार पंक्तियों के होते हैं, और भैलौ तथा देउसी के पर प्रायः प्रश्नोत्तर के रूप में गाये जाते हैं। प्रेमियों और प्रेमिकाओं द्वारा इनकी रूप-रेखा सजीव हो उठती है।

६ संगिनी गीत

ये तीज के दिनों में स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले 'कोरस' गीत हैं। गाँव के मन्दिर में या वट अथवा पीपल के नीचे वे घेरा बनाकर खड़ी होती हैं। बारी-बारी से दो-दो स्त्रियाँ इस घेरे के बीच में गाती तथा नाचती हैं। अन्य स्त्रियाँ एक स्वर हो घेरे में नाचने वालियों के साथ गाती हैं। संगिनी गीतों में गृह-जीवन के चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। नेपाली स्त्रियों का विश्वास है कि जो स्त्री इन दिनों इस नृत्य में सम्मिलित न होगी, वह आगामी जन्म में जैगड़ी उत्पन्न होगी।

७ रसिया गीत

इन्हें किसान स्त्री-पुरुष खेतों में धान बोते या रोपते समय लम्बे स्वरों में गाते हैं।

८ बासुन-गीत

घरती गाती है

इनमें रामायण, महाभारत तथा भागवत् के विभिन्न पात्रों-सम्बन्धी लोक-गाथा रहती हैं ।

१ रतेली गीत

जिस दिन बरात कन्या के घर की ओर प्रस्थान करती है, उससे अगले दूदिन वर के घर में आनन्दोत्सव मनाया जाता है। गली-मुहल्ले की स्त्रियाँ वर के घर में रात-रात भर रतेली गाती तथा नाचती हैं। रतेली गीतों में श्रृंगार-रस का आधिपत्य रहता है।

१० नानी-फूल्थौने गीत

लोरियाँ और पालने के गीत इनके दो मुख्य विभाग हैं।

११ बारामासे गीत

इनकी नायिकाएँ वियोगिनी होती हैं। नेपाल के वर्ष-भर बदलते रहने वाले प्राकृतिक चित्रपट पर नायिकाओं के सुख-दुःख के चित्र अंकित किये जाते हैं।

१२ असार गीत

ये आषाढ़ मास में गाये जाते हैं। किसानों में ही इनका अधिक चलन है।

१३ साउने गीत

ये प्रायः सावन में गाये जाते हैं ! इन दिनों माता-पिता अपनी कन्याओं को उनकी ससुरालों से बुला भेजते हैं। इन गीतों की नायिकाएँ दो प्रकार की हैं—एक वे जो ससुराल में हैं और सावन में मैहर जाने के लिए तरस रही हैं। और दूसरी वे जो नैहर आ गई हैं और वर्षा का आनन्द मना रही हैं।

१४ चैते गीत

इनमें वसन्त का आशा तथा उत्साह भरा संगीत रहता है। ये चैत्र-मास में गाये जाते हैं।

नेपाली लोकगीतों का रस तो इनकी ध्वनि तथा लय में ही है। लिपिबद्ध होने पर इनके मौलिक संगीतमय रूपा, अनुमान करना अत्यन्त कठिन है। बहुत सा रस तो लिपिबद्ध होने तक उड़ जाता है। रहे-सहे रस का यथेष्ट भाग अनुवाद की मरु-भूमि में सूख जाता है।

हिन्दी-वेष धारण करके इन गीतों की रस-धारा एक प्रवासिनी की भाँति साहित्य-जगत् के सम्मुख आ रही है।

पकी हुई फसल देख कर नेपाली किसान मस्त हो उठता है और वह झूम-झूम कर गाता है—

कती राम्रो मेरो ई पाँगरो गोरु
कती राम्रो मेरो हल
कती राम्रो मेरो उबजानी वारी
राम्रो छ मेहनत को फल

—‘कितने सुन्दर हैं मेरे रंग-विरंगे बैल,
कितना सुन्दर है मेरा हल ।

कितने सुन्दर हैं मेरे उपजाऊ खेत,
सुन्दर है यह मेरी मेहनत का फल !’

धरती माता का गुण-गान नेपाली लोकगीतों की विशेषता है—

धरती आमै धरती बावै
येस्वाटा पाँऊछु अन्न
पियार म गछु सन्मान गर्छु,
धरती आमै धन्न

—‘धरती माता है, धरती पिता है,

इससे मैं अन्न प्राप्त करता हूँ ।

मैं इसे प्यार करता हूँ और इसका सम्मान करता हूँ,
धरती माता धन्य है ।’

किसानों में दुखी प्राणियों की कमी नहीं—

उमर बितायें जोताई माँ मैले
आयें न सुख को दिन
जिव बूढ़ो मेरो मन बूढ़ो मेरो
सुख छैन एकै छिन

—‘उमर बिता दी मैने हल चलाते-चलाते,

सुख का दिन न आया ।

मेरा हृदय बूढ़ा हो गया ।

मेरे लिए सुख का एक क्षण भी नहीं ।’

कुछ गीतों में नेपाल के प्राकृतिक चित्रपट पर मानव-हृदय की सरल अनुभूतियाँ
अंकित की गई हैं । भावात्मक दृष्टि से तो ये गीत सुन्दर हैं ही, इन से प्रकृति-मिरीचण का
भी यथेष्ट परिचय मिलता है ।

प्रेमी का हृदय एक बार प्रेम का पुजारी बन कर फिर इस पथ से पीछे नहीं हटता ।
एक गीत में यही भाव व्यक्त किया गया है—

हिमलै चूली तियो पारि बाटो
हिउँ कैले जामिछ
बगे को पानी ऊडे को चित्त
कहाँ गई थामिछ

—‘हिमालय-शिखर के उस ओर

बर्फ कब जमेगी ?

धरती गाती है

बहता हुआ जल और उबता हुआ हृदय

कहां जाकर थमेगा ?'

प्रेमी की तुलना यहाँ एक पहाड़ी नदी से की गई है, जो नाचती-गाती उछलती-कूदती अविराम गति से बहती है। बर्फ जमने के दिनों में भले ही पहाड़ी नदी की गति कुछ मन्द पड़ जाय, पर वह रुकती त्रिलकुल नहीं। इस नदी की भांति ही प्रेमी का हृदय उबता हुआ चलता है।

कोई बाँझ स्त्री अपनी निराशा का चित्र अंकित कर रही है—

मदेस को लहरे पीपल
बैलायो धूपले
न छोरो पाऊँ न छोरी पाऊँ
के गर्न रूपले

—'तराई का लहराता हुआ पीपल

धूप में सुरमा गया।

न मेरे पुत्र हुआ न पुत्री,

रूप का क्या गर्व करूँ !'

कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका की आँखों पर रीझ रहा है—

बगीचा भरि फल र फूल
छेऊँ छेऊँ माँ करेला
आफु को आँखा जुनकेरी जस्तो
भमकौने परेला

—'बगीचा फल-फूल से भरपूर है

पास-पास करेलों की लताएँ हैं,

जुगनुओं की-सी तुम्हारी आँखें,

पलकों के भीतर से झलक दिखाती हैं।'

पति परदेसमें है। ऐसे समय किसीकी बाँसुरीके स्वर भला क्या प्रेरणा दे सकते हैं—

हिमालैँ चूली के एती राम्रो
सरप को काँचुली
यो पापी मन विरह चाख्यो
न बजायो बाँसुरी

—'हिमालय की चोटी कितनी सुन्दर है

सर्प की कँचुली के समान।

यह पापी मन विरही हो डठा,

बाँसुरी न बजाओ।'

विद्योगिनी अपने मन की उत्कंठा को गुप्त तो नहीं रख सकती—

स्वर्ग नै भरि नौ लाख तारा
म गन्न सगदी न
पेट को कुरा मुखै माँ आउछ
म भन्न सगदी न

—‘आकाश पर नौ लाख तारे भरे हैं,

मैं उन्हें गिन नहीं सकती।

पेट की बात मुख पर आती है,

मैं उसे कह नहीं सकती।’

नेपाल के डाकखाने के टिकटों पर भी लिखा रहता है—‘जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी’—जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी प्रिय है।’ नाचता गाता नेपाल युग-युगान्तर से सुनहरे भू-स्वर्ग के सुनहरे चूल्हों, सुनहरी नदियों, सुनहरे पक्षियों और सुनहरे पात्रों पर गर्व करता आया है—

सुन जस्तो नेपाल के राम्रो देख छ
स्वर्ग छ संसार माँ
सुन जस्तो मायालो जुन-जस्तो देख छ
माया को संसार माँ

—‘स्वर्ग जैसा नेपाल कितना सुन्दर दिखाई देता है,

यह संसार में स्वर्ग है।

स्वर्ग जैसे प्रियतम स्वर्ग जैसे दिखाई देते हैं,

प्रेम के संसार में।’

तीनै र सहर नेपालै ज्ञान माँ
सुन को मकल
पगरी माथी दुई थूँगा फूल
सुन बैस नकल

—‘प्रिय नेपाल में तीन ही शहर हैं,

वहाँ स्वर्ण के चूल्हे हैं।

तुम्हारी पगड़ी पर फूलों का जोड़ा है,

यह तुम्हारे स्वर्ण-यौवन का प्रतिरूप है।’

नेपाली स्त्रियाँ अपने गीतों में जन्म-भूमि को स्वर्ण-नदियों का विशेष रूप से बखान करती हैं। पर जब सिन्धूर की डिबिया भूल से घर पर ही छूट जाय तो उल्लास भी मखिल हो उठता है—

छरती गायत्री है

नेपाले जयान को सुनाको धारा
म कपाल नोहाऊँ दैछुं
कपलै नुहौऊने झुँगा मां वसे
म कपाल सुकाऊँ दैछुं
सिरको सिन्धुर बिरसेर आयें
यो मनै अन्धैर
घर जाऊं भने कसैरी चेली
सिर को सिन्धुर बिरसेर आयें
माइत जाऊं भने बियोसी चेली
यो मनछे हास्री आमैले

—‘प्रिय नेपाल की स्वर्ण-धारा है,
मैं सिर के केश धो रही हूँ ।
केश धोकर चट्टान पर आ बैठी,
मैं केश सुखा रही हूँ ।
सिर का सिन्दूर भूल आई,
यही तो अन्धेरे है ।
ससुराल जाना चाहूँ तो कैसे जाऊँ ?
सिर का सिन्दूर भूल आई ।
नैहर जाना चाहूँ तो मां कहेगी—
बह आती है मेरी लापरवाह बिटिया !’

एक नेपाली गीत में सास की झिझकियों से डकताई हुई वधू पास बैठी चिड़िया से प्रार्थना करती है कि वह उड़कर उसके नैहर जाय और उसके माता-पिता से उनकी कष्ट-कथा कह सुनाये । वह स्पष्ट शब्दों में कह देती है कि भाई पूछें तो उनसे यही कहे कि उनकी बहन को कुछ भी कष्ट नहीं—

कठै चरी चाँचरी, कठै सुनको चाँचरी
कठै आमैको माया, कठै म कती गरुंला
कठै चरी चाँचरी, कठै सुनको चाँचरी
कठै वावे को माया, कठै म कती गरुंला
कठै के राम्रो भनेको, कठै सुनको चाँचरी
कठै के राम्रो ऊडेको, कठै सुनको चाँचरी
कठै ऊडेर ऊड़ी जाऊं, कठै सुनको चाँचरी
कठै समाचार लागीदे, कठै सुनको चाँचरी
कठै आमैले सोदिन भने, कठै सुनको चाँचरी

धरती माती है

कठै मरिछ भनि दिनु, कठै सुनको चाँचरी
 कठै दाज्यु ले सोधे भने, कठै सुनको चाँचरी
 कठै सन्चैछ भनि दिनु, कठै सुनको चाँचरी
 कठै बावै ले सोदिन भने, कठै सुनको चाँचरी
 कठै मरिछ भनि दिनु, कठै सुनको चाँचरी
 कठै दीदीले सोधिन भने, कठै सुनको चाँचरी
 कठै सन्चैछ भनि दिनु, कठै सुनको चाँचरी
 कठै के राम्रो भनेको, कठै सुनको चाँचरी
 कठै के राम्रो ऊढेको, कठै सुनको चाँचरी

—‘कितना, ओ चिड़िया, ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना है माँ का प्रेम, मैं कितना बखान करूँ ?
 कितना, ओ चिड़िया, ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना है पिता का प्रेम, मैं कितना बखान करूँ ?
 कितना सुन्दर है तेरा गान—हाँ कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितनी सुन्दर है तेरी उड़ान—हाँ कितनी—ओ स्वर्ण चिड़िया,
 कितना—उड़ते-उड़ते जाओ—हाँ कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना—मेरा समाचार सुना देना—हाँ कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना—मेरी माँ पूछे—हाँ कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना—वह मर रही है, कह दीजियो—हाँ कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया
 कितना—बड़ा भाई पूछे तो कह देना हाँ कितना—ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना—सुख है उसे, कह दीजियो—हाँ कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना—पिता पूछे तो कह दीजियो—हाँ कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना—वह मर रही है, कह दीजियो—हाँ कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना—बहिन पूछे तो कह दीजियो—हाँ कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना—सुख है उसे, कह दीजियो—हाँ कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितना सुन्दर है तेरा गान—हाँ कितना ओ स्वर्ण-चिड़िया,
 कितनी सुन्दर है तेरी उड़ान—हाँ कितनी ओ स्वर्ण-चिड़िया !’

एक गीत में कोई स्त्री अपने दामाद का आतिथ्य कर रही है—

सुनको थाली मरसी को भात
 खाँदै खाँदै न
 के राम्रो बियोला घरै माँ आऊँदा
 वोलाउँदा बोल दैन

धरती माती है

—‘स्वर्ण की धाली है, उसमें मरसी चावल का भात है,
वह खाता ही नहीं।

कितना सुन्दर दूल्हा घर में आता है,
वह बुलाने से बोलता ही नहीं।’

कबूतर के प्रति नेपाली कन्या का अनुराग अनेक गीतों की रचना में सहायक हुआ है। विवाह के पश्चात् नहर से विदा लेने समय पिता से एक जोड़ा कबूतरों की याचना करने वाली कन्या का गीत नेपाली लोक प्रतिभा की आवाज़ है—

हाम्रा बाबाकी धुरीर माथी नवै जोर परेवा
मलाई र पनि देउ है बाबा एकै जोर परेवा
गाईको दाइजो दिउला है छोरी पुग्दैन परेवा
गाईको दाइजो के गरनो मलाई कर्म माँ मेरो छैन परेवा
हाती को दाइजो दिउला है छोरी पुग्दैन परेवा
हाती को दाइजो के गरनो मलाई कर्म माँ मेरो छैन परेवा
न रौ, न रौ पवित्र चोली, दिऊंला है दाइजो परेवा
तिनैर परेवा धूरे को सुनदा म धन्दा तुरुंला

—‘हमारे पिता के घर की छत पर नौ जोड़े कबूतर बैठे हैं
मेरे लिए दे दो, पिता जी, एक जोड़ा कबूतर।
‘मैं गाय का दहेज दूंगा, बिटिया मैं कबूतर देने में असमर्थ हूँ।’
‘गाय का दहेज लेकर मैं क्या करूंगी मेरे भाग्य में कबूतर नहीं।’
‘मैं हाथी का दहेज दूंगा, बिटिया मैं कबूतर देने में असमर्थ हूँ।’
‘हाथी का दहेज लेकर मैं क्या करूंगी, मेरे भाग्य में कबूतर नहीं।’
‘न रो, न रो, पवित्र बिटिया, मैं तुम्हें कबूतरों का दहेज ही दे दूंगा।’
‘इन कबूतरों की घुटर-धूँ सुनते मैं घर का कार्य किया करूंगी।’

अनेक गीतों में बहुओं के प्रति निर्दयी सासों का अत्याचार चित्रित किया गया है—

सासु भनछे बुहारी, बुहारी भनछे जीऊ
सिंगमांग माँ राखेको कसले खायो धीऊ
देखनु न सुननु, मैले कहाँ खायें
ओठ तेरा पिछा छन थाह मैले पायें
ढोका जती बन्द गछुँ, भयाल जती खोलछु
धीऊ चोरने बुहारी का ओठ तेरो पोलछु

—‘सास कहती है—बहू ! बहू कहती है—जी !

‘काठ की हॉडी में रखा हुआ धी किसने खाया ?’

‘न देखा न सुना, मैंने कहाँ खाया ।’

तेरे होंठ चिक्कने हैं, मैंने थाह पा ली ।

जितने द्वार हैं बन्द किये देती हूँ, जितनी खिड़कियाँ हैं खोले देती हूँ ।

तू घी-घोर बहू है, तेरे होंठों को दास दूँगी ।’

सास के अत्याचारों का कहीं अन्त नज़र नहीं आता—

बिरानो देस माँ म मरि जाऊँला

रुई दिने कोई छैन

—‘मैं इस परदेस में मर जाऊँगी,

मेरे लिए आँसू बहाने वाला कोई नहीं ।’

नारी को जन्म हारे को कर्म

अरका को सुसाले

—‘नारी का जन्म एक पराजित कर्म है,

सदैव दूसरों की परतन्त्रता !’

दीपावली का त्यौहार आया, सभी नवीन वस्त्रों के लिए डस्टुक हो उठे । सास बहू से पूछती है—क्या तुम्हें भी कोई नया वस्त्र चाहिए ? पर यह समझ कर कि उस उपहार की तह में तनिक भी स्नेह नहीं, केवल रस्म पूरी की जा रही है, बहू कह उठती है—

चोलिया मलाई चाहिँदै न बजै

तिमरी पियारी कठै तिमरी पियारी

पटुको मलाई चाहिँदै न मलाई

तिमरी पियारी कठै तिमरी पियारी

—‘मुझे चोली नहीं चाहिए, सास जी !

तुम्हारे प्यार की कामना है, तुम्हारे प्यार की कामना ।

मुझे पटुका नहीं चाहिए, सास जी !

तुम्हारे प्यार की कामना है, तुम्हारे प्यार की कामना ।’

वधू रूपवती है । और ननद ईर्षालु । जब देखो तभी ननद को शरारत सूझती है । वधू सिन्दूर से शृंगार करने लगी तो उसे दर्पण न मिला । समझ गई कि ननद की कारस्तामी है । एक गीत में कुछ-कुछ इसी की चर्चा की गई है—

सिन्दुर टिपी लाऊँदा हुनी नानी

सानी मेरी नानी

ऐने हेरनु पाईना मैले

सानी मेरी नानी ।

—‘मैं सिन्दूर-बिन्दी लगाने चली थी, ओ ननद !

ओ स्नेहमयी ननद !

धरती गाती है

दर्पण देखने से कहीं नहीं मिला,

ओ स्नेहमयी ननद !

भारत की कौज में भी गोरखा सैनिक यथेष्ट संख्या में हैं। भारत से लेकर यूरोप तक के अनेक रण-क्षेत्रों में वे अपनी वीरता के जौहर दिखा चुके हैं। सैनिक का चित्र नेपाली लोकगीत में बार-बार उभरता दिखाई देता है। वियोग का दुःख बहुत बुरा होता है, इसीलिए सैनिक की पत्नी उदास स्वरों में गा उठती है—

सिपाई को जूनी पल भरी छैन

मरनु पड़छ रणै माँ

—‘सिपाही का जीवन पल भर का भी नहीं,

उसे रणभूमि में मरना पड़ता है।’

एक गीत में किसी सैनिक की बहिन और उसकी भावज का वार्तालाप पिरोया गया है—

सिर को सिन्दुर पैरे र भाऊजु

हाम्रै दाजु आई र पुगे

नेपालै ज्यान माँ

तेती को झजलको के मानछे नानी

कैले र आऊंथे तिमरा दाजु

रणै माँ परेका

—‘सिर का सिन्दुर लगा ले भावज !

मेरा बड़ा भाई लौट आया

प्रिय नेपाल में।’

‘उसके लिए तू क्यों उतावली हो रही है, ननद।

तेरा बड़ा भाई कहां से आ जायगा ?

वह तो रणभूमि को जा चुका है।’

एक वीर सिपाही बाघ का शिकार करने निकला है—

बाघै को शिकारी तिमि को हौ, तिमि को हौ

कस्ले दियोनी राम्रो जवानी कस्ले दियो यो रूप

बिर बावा को छोरा म बाघै को शिकारी

देवताले दियो जवानी देवताइले दिये नी रूप

बिर बावा को छोरा ले मारी र दियोनी बाघ

चेहरै माँ उस्को झलकन्छ भादुरी

—‘ओ बाघों के शिकारी, तुम कौन हो, तुम कौन हो ?

किसने दिया है सुन्दर यौवन, किसने दिया यह रूप ?’

‘मैं वीर पिता का पुत्र हूँ, मैं बाघों का शिकारी हूँ,
देवता ने दिया है यौवन, देवता ने ही दिया है यह रूप ।
किस पिता के पुत्र बाघ को मार गिराया ?’

उसके मुख पर वीरता झलक रही है ।’

वीर के प्रति नेपाली कन्या की सदैव यही भावना रही है ।

स्त्री का पूर्ण विकसित रूप उसके मातृत्व में है । बिबली रानी का गंत इसी का परिचायक है—

नौ महिना देखी दस महिना पुग्यो,
दसैर महिना पुगि र ग्यो बिबली राणी को
दस महिना पुगी कष्टै र लाग्यो
फुल जस्तो छोरो जन्मै र भयो बिबली राणी को
यो बालक कस्तो हेरी दियो जैसी
बालक को लच्छिन रहे छ कस्तो बिबली राणी को
थालै र भरि दिऊ मूगा मोती
जुन जस्तो छोरो भये छ जन्म बिबली राणी को
मूगा र मोती क्या हो है जैसी
लेउ आधा राज्य अजै र देखी बिबली राणी को
लियेर राजपाट के गर्नु मैले
राजै भै सुखी छु म त राजमाँ बिबली राणी को

—‘नौ महीने देखे, दसवां महीना आ गया

बिबली रानी का दसवां महीना आ गया ।

दसवां महीना आते ही कष्ट आरम्भ हुआ,

बिबली रानी ने फूल जैसे शिशु को जन्म दिया ।

‘यह बालक कैसा है यह देख दो, ज्योतिषी जी ?’

बिबली रानी के बालक के कैसे लक्षण हैं ?’

‘मुझे मूँगों और मोतियों से भरा हुआ थाल दो,

बिबली रानी ने चन्द्रमा सरीखे बालक को जन्म दिया है ।’

‘मूँगों और मोतियों का मूक्य ही क्या है ज्योतिषी जी !

आज से तुम बिबली रानी का आधा राज्य ले लो ।’

‘मैं राजपाट लेकर क्या करूँगा ?

बिबली रानी के राज्य में मैं राजा के समान सुखी हूँ ।’

ज्योतिषी का चरित्र-चित्रण और भी अनेक स्थानों पर हुआ है । बिबली रानी

घरती गाती है

कौन थी ? यह ज्योतिषी कौन था ? नेपाली लोकवार्ता के विद्यार्थी के होंठों पर सदैव ये प्रश्न आते रहेंगे ।

अब अन्त में एक देउसी गीत लीजिए जिसे गरीब बालकों की टोलियां दीपमाला के दिनों में मिठाई की याचना करते हुए द्वार-द्वार पर गाती फिरती हैं—

येसै घरको माता री ले
हुंगा छूदा द्रव्यै हउन
माटो छूदा अन्नै हउन
पातो छूदा पीताम्बर हउन
पानी छूदा तेलै हउन
येसै घर माँ लक्ष्मी ले
सदा सर्वदा बासै गरूँ
येसै घरको लाला बाला, बूढ़ा-बूढ़ी
केरा जस्तो गाँगी रहुन
दूबो जस्तो मौली रहुन
वर पीपल जस्तो तपी रहुन
मदेलै को लत्ता कपड़ा घरै भरुन
भोट को नून, लसा को सून भंडारै भरुन
येसै घरको दुखनु पीरनु
गङ्गाजी ले बगाई लगुन
ऊँभो हिमालै चूली बतासै ले उड़ाई लगुन
दिये को आसीस लागी जाउन
देउसे भाई आसीस दियेर घरै जाउन

इस घर की माता

जिस कंकर को छू दे वह द्रव्य बन जाय,

मिट्टी को छू दे तो वह अन्न बन जाय,

पत्तों को छू दे तो वे पीताम्बर बन जाय,

पानी को छू दे तो वह तेल बन जाय ।

इस घर में लक्ष्मी

सदैव निवास करे ।

इस घर के बालक और बालिकाएं, बूढ़, स्त्री, पुरुष

केलों की भांति गुच्छों में फूलें फलें,

दूब की भांति खूब फैलें

बड़ और पीपल की भांति तपस्वी बने रहें ।

मैदानी प्रदेश के वस्त्रों से घर भर जाय ।

भोट के नमक और लहासा के स्वर्ण से भण्डार भरे रहें ।

इस घर के समस्त कुख

गंगा बहा कर ले जाय ।

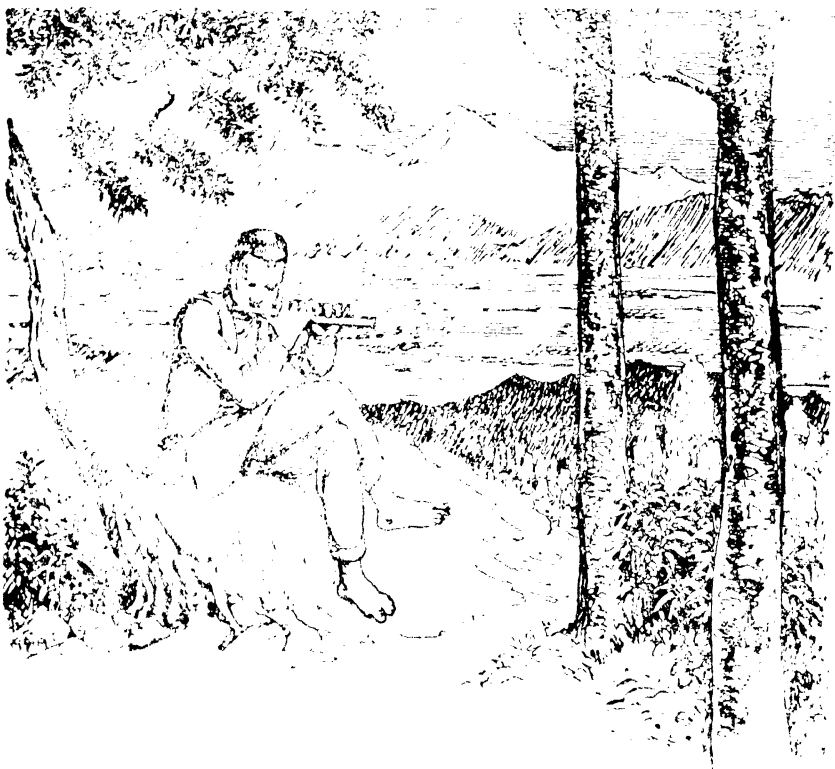
ऊपर हिमालय के शिखरों के पार हवा उन्हें उड़ा ले जाय ।

दी हुई आशीष पूर्ण हो जाय ।

देइसी गान के साथियो ! आशीष देकर हम अपने-अपने घर को लौट चलें ।'

इस गीत में प्रकृति-निरीक्षण की झलक तो है ही, साथ ही यह भी पता चलता है कि पुराने ज़माने में निचले मैदानी प्रदेशों से नेपाल में वस्त्र जाया करते थे, और नमक तथा सोना वहाँ तिब्बत से आता होगा। जब नेपाली हृदय गाता है कि हवाएँ नेपाल के कणों को ऊपर—हिमालय के शिखरों से भी ऊपर—उड़ा ले जायें, तो वह अवश्य ही जानता है कि यदि किसी प्रकार यह सम्भव हो जाय, तो तिब्बत के लोग इन्हीं कणों से दुःखी होंगे। नेपाल को पिछले ज़माने में तिब्बत से कई लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं, और उन्हीं के कारण नेपाली हृदय में तिब्बत वालों के प्रति कुछ-कुछ उपेक्षा के भाव बाकी हैं, जो कभी-कभी बाहर आ जाते हैं।

नेपाली गीतों में नेपाल की संस्कृति अपनी वास्तविक छाया तथा प्रकाश के साथ चित्रित हुई है। इन गीतों के पात्र चलते-फिरते साँस लेते मनुष्य हैं। वे हमारी भाँति ही जीवन के उतार-चढ़ाव में उलझे हैं। पर उन स्थलों पर जहाँ उनकी सुसकान अश्रुओं का स्पर्श करती है, जहाँ उनके सुख-दुःख गले मिलते हैं, यहाँ उनकी आशा और निराशा का संगम है, हम उन्हें ऋट पहचान लेते हैं, जैसे हम उनसे अनेक बार मिल चुके हों।



गढ़वाल का चित्र

: १ :

गढ़वाल सुन्दर है, सरस है और सजीव है। सुहावने खेतोंकी सीढ़ियों-जैसी क्यारियाँ दर्शकों का मन मोह लेती हैं। कहीं ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ हैं, कहीं ऊपर-नीचे जाती हुई चक्करदार घाटियाँ, कहीं झरनों और चरमों का अखिराम संगीत, कहीं रंग-बिरंगे पक्षियों का मधुर कलरव—सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के अमर चिह्न।

गढ़वाल में अखरोट के वृक्ष बहुत होते हैं। यहाँ के जीवन पर अखरोट का बहुत प्रभाव पड़ा है। क्योंकि गढ़वालियों के शरीर अखरोट के छिलके-जैसे सख्त हैं, और हृदय अखरोट की गिरी-जैसे नरम। मधु का तो गढ़वाल घर ही है। गढ़वालियों के हृदय को कदाचित् मधु ने ही इतना मधुर बनाया है। 'चूलू' इस प्रदेश का एक विशेष जंगली फल है। गढ़वाली जनता 'चूलू' की खटमिट्टी चटनी पर बहुत मुग्ध है; उसका सुख-दुःखमय जीवन 'चूलू' की चटनी का-सा खटमिट्टा है। 'काफल' यहाँ का एक और जंगली फल है—देखने में लाल, स्वाद में मीठा। गढ़वाली माता अपने शिशु में प्रायः 'काफल' की भावना किया

करती है। कितनी ही लोरियों में वह नन्हें-नन्हें शिशु की पीठ पर थपकिचाँ देती हुई, या उसको झूले झुलाती हुई, गाती है—‘काफल-सी बच्चा सेजालो, सेजालो।’ अर्थात्—‘सो जायगा, मेरा काफल का-सा शिशु, अभी सो जायगा।’ ‘कप्-फू’ इस प्रदेश का एक विशेष पक्षी है, जो अपनी ‘कप्-फू’ ‘कप्-फू’ की ध्वनि से कुछ-कुछ कर्णा का वातावरण उत्पन्न कर देता है। ‘हिलॉस’ यहाँ का एक और पक्षी है, जिसकी चोंच एक दम जाल और पंख मरकत मणि के-से हरे रंग के होते हैं। गढ़वाली जीवन में ‘हिलॉस’ के कलरव की मधुरिमा का सम्मिश्रण हुआ है। ‘भावर’ परगने में ‘बोसगढ़’ तथा ‘हाथीकुंड’ के बीच के जंगलों में शेर और चीते बहुत मिलते हैं। मुक्ताबला पर्वत पर इन्हें आन की आन में ज़मीन पर मार गिराना गढ़वाली किसान के लिए बाएँ हाथ का खेल है। ‘गढ़वाल-गैज़ेटियर’ के सम्पादक के कथनानुसार “गढ़वाल के निवासी स्वतन्त्र प्रकृति के स्वाभिमानी प्राणी होते हैं।...वे साहसी होते हैं और जन्मसिद्ध सिपाही न होते हुए भी उनमें अनेक वीरोचित गुण विद्यमान हैं।”

गढ़वाल ग्राम-प्रधान जनपद है; नगर बहुत कम हैं—उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। गढ़वाली जनता हमें मानव-सभ्यता के उस बाल्य काल की याद दिलाती है।

हिमालय के चित्रपट पर यहाँ के ग्राम दूर से देखने में अत्यन्त चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं, जैसे वे किसी कुशल चित्रकार की तूजिका द्वारा अंकित चित्र हों।

: २ :

गढ़वाली लोकगीत गढ़वाली जीवन की एक सूत्रता में बंधे हुए हैं। इन्हें हम अनेक विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

१ मांगले—

ये पुरातन हैं, और प्रायः पुत्र-जन्म, विवाह आदि शुभ अवसरों पर गाये जाते हैं। कल्याण-कामना तथा आशीर्वाद प्राप्ति के उद्गारों द्वारा इनका निर्माण हुआ है। इन्हें केवल स्त्रियाँ गाती हैं।

२ लोरियाँ—

इन में ममता और वास्तव्य रस की पुट रहती है।

३ झुमैल्लो—

प्रेम तथा विरह के भावों से ओत-प्रोत ये गीत यहाँ के दैनिक जीवन में पग-पग पर गाये जाते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही इन्हें गाते हैं।

४ वसन्ती—

श्रृंगार रस-प्रधान ये गीत वसन्त ऋतु में गाये जाते हैं। नृत्य-गीतों के रूप में इन का प्रयोग युग-युगान्तर से होता आया है।

५ पंचाड़े—

वीर-गाथाओं से परिपूर्ण ये गीत गढ़वाली जीवन के विशेष अंग हैं। ‘बादी’ लोग

धरती गाती है

इन्हें गाते हुए घूमते हैं, और इस जनपद के ये ग्रामीण भाट का बखान करते कभी नहीं ऊबते ।

१ विरदावलियाँ—

गढ़वाल के प्राचीन इतिहास पर ये गीत बहुत प्रकाश डालते हैं ।

७ जागर—

रतजगों में गाये जाने वाले ये गीत 'ग्रामीण देवी-देवताओं की स्तुति पर केन्द्रित हैं ।

८ बाजूबन्द—

ये केवल दो-दो पंक्तियों के ही होते हैं । पहली पंक्ति केवल तुक मिलाने के लिए प्रयोग में लाई जाती है । पर कभी-कभी पहली अत्यन्त सार्थक हो जाती है, और गीत की अन्य दोनों पंक्तियों को और भी उभार देती है ।

९ चौफला—

शृंगार तथा हास्यरस प्रधान ये गीत मिलन के सजीव चित्र हैं । स्त्रियाँ इन्हें गाती हुई विशेष रूप से नाचती भी हैं ।

१० चौमासा—

ये वर्षा ऋतु के गीत हैं ।

११ बारामासी—

वर्ष के बारह महीनों के वर्णन के साथ-साथ विरहिनियाँ अपने परदेसी पतियों की याद में आँसू गिरा-गिरा कर गाती हैं ।

१२ पट—

'पट' दोहे का पर्यायवाची है । कठिन-से-कठिन मेहनत का काम करते हुए स्वर में वर मिला कर पट गाने की प्रथा बहुत पुरातन है । इनकी कोई निश्चित ध्वनि नहीं है ।

कुछ गीत ऐसे भी हैं जिनमें किसी नायक या नायिका की कथा रहती है । सदेई का गीत इस प्रकार के गीतों का एक उज्ज्वल उदाहरण है । न-जाने सदेई कौन थी, किस ग्राम की रहने वाली थी । गढ़वाली जनता सदेई की जीवन-कथा गाते घंटों झूम करती है । युवतियाँ इसे बहुत शौक से गाती हैं—

ऊँचि डाँड्यू तुम नीसि जावा
घणी कुलायो तुम छांति होवा
मैकू लगी छ खुद मैतुड़ा की
बाबाजी को देखण देस देवा
मैत की मेरी तु त पौण प्यारी
सुणौ तु रैवार त मा को मेरी

गाड़ू गदन्यू व हिलाँस कप्फू
मैत को मेरा तुम गीत गावा

—‘हे ऊंची पहाड़ियो ! तुम नीची हो जाओ ।
ओ चीड़ के घने वृक्षो ! तुम सामने से छूँट जाओ ।
मुझे मायके की याद सताती है,
मुझे पिताजी का देश देखने दो ।
ओ मेरे मायके की हवा !
मेरी माँ का सन्देश सुना ।
ओ नदी नालो, ओहिलाँस पत्नी, ओ कप्फू !
तुम सब मिलकर मेरे मायके का गीत गाओ ।’

सन् १९२१ में पौड़ी-निवासी श्री तारादत्त गैरोला ने ‘सदेई का गीत’ प्रकाशित किया था जिसकी मूल प्रेरणा उन्हें गढ़वाली लोकगीत से ही प्राप्त हुई थी । अपनी पुस्तक की भूमिका में गैरोला जी ने गढ़वाली भाषा में लिखा था—

“... यद्यपि मैं कल्पी नी छऊँ, और न आज तक कभी मैं कविता लेखी, तथापि मैं कू गढ़वाली गीत, भड़वाली सुगन को बचपन से ही शौक छ, और या अभिलाषा रखे कि मैं यूँ अत्यन्त मनोहर गीत को जीर्णोद्धार करूँ । मैं कुछ कालसे यो काम करना आरम्भ करे । किन्तु खेद छ अवकाश नी मिलण से पूरो संग्रह नी करि सक्यो । कुछ भड़वाली ‘गढ़वाली’ मा प्रकाशित करेन । आज मैं गढ़वाली गीत पाठक की भेंट करदूँ । यो मेरो कविता लिखण को प्रथम समय छ । मैं कू भय छ कि ई कविता मां सत कविजन कई दोष निकालला । किन्तु मेरो अभिप्राय येई ‘सदेई’ का गीत को संशोधन करीक तथा नयां ढंग से लिखण को यो छ कि अन्य सत्कवियों को ध्यान येई स्वदेशी अमूल्य भंडार की ओर आकर्षित होव ।

“यो गीत हमारा देश का ‘औजी’ चैत का महिना, जब वो अपणी ‘दिसाओं’ का घर मांगण जांदाण, गांदान । मैं नभो यो कई बार सुणो । किन्तु पूरो गीत बहुत कम औजी जाणदान, बहुत कुछ अपभ्रंश करीक गांदान । मैंन दूी वर्ष होयेन, यो गीत सुणो छयो वे मां बहुत कुछ परिवर्तन करनू पड़े...।”

सदेई के गीत को जो पंक्तियां ऊपर उद्धृत की जा चुकी हैं, लोकगीत की वस्तुएं हैं । गैरोला जी ने अपनी पुस्तक में इन्हें अक्षरशः प्रस्तुत किया है । और भी कहीं-कहीं मूल लोकगीत के शब्द हू-ब-हू उठाकर प्रयोग में लाए गये हैं । चैत्र नाम में गढ़वाल में घर-घर भाई अपनी बहिन से मिलने जाते हैं ताकि उसे मायके में लिवा ले आयें । सदेई का गीत इस पृष्ठभूमि में रंग भरने में समर्थ हुआ है । सदेई का भाई सदेऊ अपनी बहिन से मिलने के लिए चल पड़ता है । उसे मां ने कभी नहीं बताया था कि उसकी कोई बहिन भी है । किस प्रकार सदेऊ सदेई के ससुराल तक पहुँचता है, यही सदेई के गीत की वास्तविक रूपरेखा है ।

धरती माती है

चार पहाड़ों के पार ब्याही जाने वाली कन्या का गीत गढ़वाली संस्कृति पर विशेष प्रकाश डालता है—

जा भाग्यानी तू मैत न्है जा
मेरो रैवार बई मूं ली जा
इनु बोल्यान तुम बई मूं मेरी
खुद लगी छ बल बई तेरी
बाबा को बोल्यान तुमन भलों करे
रुपयों खैक मेरो बुरो करे
बाबा न दिने चौ डाण्डों पोर
भायों न करे रुपयों जोर
भौजी क बोल्यान मैं जागी रौ लो
यूं की हालात तबो लौलो
ये गौं छ पाणी दूरो
मऊ पूस क छ जाड़ो बूरो

—‘जा भाग्यशालिनी, तू पीहर को चली जा,

मेरा सन्देश मां के पास ले जा ।

ऐसे कहना : ‘तुम मेरी माँ हों,

तुम्हें मिलने की बहुत भूख लगी है मां !

पिता से कहना : तुमने अच्छा किया,

रुपये खाकर तुमने मेरा बुरा कर डाला ।’

पिता ने मुझे चार पहाड़ों के पार दे दिया

भाईयों ने भी रुपया लेने पर जोर दिया ।

भाई जी से कहना : ‘मैं बाट जोहूँगी

यहां की हालात तभी सुन लेना ।’

इस गांव का पानी बहुत दूर है, मां !

माघ पूस का जाड़ा भी बहुत बुरा है ।’

गढ़वाली लोकगीतों में, जहाँ ससुराल को जाती हुई कन्या के हृदय में करुणा की अभिव्यक्ति दिखाई गई है, काला पहाड़ पृष्ठभूमि में एकाएक उंचा होने लगता है—

काला डांडा पीछ बाबा जी

काली च कुएड़ी

बाबाजी, एकुली मैं लगड़ी च डSSR

एकुली एकुली मैं कनु कैकी जौलो

—‘काले पहाड़ के पीछे, पिताजी !

काला कुहरा छा रहा है।

पिताजी, मुझे अकेले में डर लगता है।

अकेले-अकेले में ससुराल कैसे जाऊँगी ?’

गढ़वाली लोकवार्ता में ‘काले पहाड़’ की अनेक बार चर्चा की गई है। एक महिला ने ईरान के एक पहाड़ की रेखा अंकित करते हुए एक स्थान पर लिखा है—“ऐसा होता है पहाड़ का रूप। पहले दूर से देखने से स्वप्न सरीखा। फिर पास से चौंका देने वाला। फिर एकदम गुम, जैसे-जैसे हम इसके बाहरी भागों और घाटियों के जाल में उलझते जाते हैं। पर एकाएक यह फिर दिखाई दे जाता है, हालांकि हमें इसका ध्यान भी नहीं होता, जैसे किसी प्रिय चेहरे पर तेज़ रोशनी दौड़ जाय जिसे देखने के लिए प्रथा ने हमारी आंखें कुन्द कर रखी हों। आदमी ही की तरह पहाड़ भी अनेक श्रृंगों से बना हुआ जीव है। अनेक बार देख लेने पर, अनेक स्थानों से इसका स्नेहमय अध्ययन कर चुकने पर ही—यदि यह अपने व्यक्तित्व के यथाक्रम प्रकाश और वृद्धिशील अर्थपूर्णता द्वारा कोई पहाड़ों में पहाड़ हो भी—हम इससे परिचित हो पाते हैं। इसके गुप्त-से-गुप्त स्थानों की यात्रा के पश्चात्, नीचे मैदान से हमें यह चिर-परिचित प्रतीत होता है। यद्यपि वहाँ से यह संध्या-काल के अवकाश में दौँत चाँपती हुई पर्वतमाला के बीच में एक छोटा-सा, नीला शोला-भर दीखता है।” मैं सोचता हूँ गढ़वाल का ‘काले पहाड़’ तो कठिनाइयों का प्रतीक है। इसकी कल्पना ही से कन्या का हृदय काँप उठता है।

वसन्त ऋतु का स्वागत भुमैलो द्वारा किया जाता है जो अनेक अवसरों पर नृत्य-गीत के रूप ही में इस जनपद की रंगभूमि पर मचल उठता है—

आई गेन ऋतु बौड़ी दाईं जनों फेरो, भुमैलो
ऊबा देसी ऊबा जाला, ऊदा देसी ऊँदा, भुमैलो
लम्बी-लम्बी पुँगड़ यों मां रसरस शब्द होलो, भुमैलो
गेहूँ की जौ की सारी पिंगली होई गैने, भुमैलो
गाला गीत वसन्ती गौं का छोरा ही छोरी, भुमैलो
डांडी कांठी गूँजी ग्येन ग्वैरू को गितूना, भुमलो
छोटी नौना नौनी मिलि देल्यूँ फूल चढ़ाला, भुमैलो :
जौं का भाई रला देला टालुकी अँगूड़ी, भुमैलो
मैतु बैण्युँ कु अण्णी बोलौला चेत मेना, भुमैलो

‘वसन्त ऋतु लौट आई, फसल मौँड़ते समय बैलों के चक्कर के समान, भुमैलो !

ऊपर देश वाले ऊपर जायंगे, नीचे देश लाले नीचे, भुमैलो !

लम्बी-लम्बी क्यारियों में (किसानों का) रसरस शब्द होगा, भुमैलो !

गेहूँ और जौ के सादे खेत पीले हो गए हैं, भुमैलो !

धरती गाती है

वसन्ती गीत गायेंगे, ग्राम की कन्याएं और युवक, भुमैलो !
छोटी-बड़ी पहलवियां गूँज उठी हैं ग्वालों के गीतों से, भुमैलो !
बालिकाएं और बालक मिल कर दहलीजों पर फूल चढ़ायेंगे, भुमैलो !
जिसका भाई होगा अंगिया और ओढ़नी का उपहार देगा, भुमैलो !
और मायके में बुलायगा बहिन को चैत्र मास में, भुमैलो !

मांगल गीतों के अन्तर्गत ग्राम देवता की प्रार्थना गढ़वाली प्रतिभा का स्नेह-स्पर्श
लिये हुए है—

पोखरी का हीत, जय जश दे
तेरी जाती को आयो, जय जश दे
भेंट ली क्या लायो जय जश दे
सोबन धु पानी लायो, जय जश दे
तेरी भेंट कु आयो, जय जश दे
लौंग सुपारी लायो, जय जश दे
मोत्यों भरि थाल लायो, जय जश दे
पोखरी का हीत, जय जश दे
तेरी जाती को आयो, जय जश दे

—‘हे पोखरी गाँव के देवता, जय और यश दे
तेरी जयन्ती को आया हूँ, जय और यश दे
‘भेंट को क्या लाया है रे ?’—जय और यश दे
‘सोने की धूपदानी लाया हूँ, जय और यश दे
तेरी भेंट को आया हूँ, जय और यश दे
मोती भर कर थाल लाया हूँ, जय और यश दे
हे पोखरी गाँव के देवता, जय और यश दे’

पहाड़ों में हर गाँव का अपना देवता होता है, जिसके सम्मुख जनता अपने दुःख
मिटाने और सुख में वृद्धि कराने की इच्छा से खड़ी होती आई है। देवता चुप रहता है।
शायद वह कभी-कभी यह जरूर पूछना चाहता है—तुम मेरी भेंट को क्या लाये हो ?

कुछ ऐसे गीत भी हैं जिनमें किसी-न-किसी ग्राम की प्रशंसा की गई है। ‘मलेथ’
ग्राम का गीत सुनिष्ट—

कैसे च भंडारी तेरा मलेथ ?
देखी भली ऐन सैवो मेरा मलेथ
लकड़ी गूल मेरा मलेथ
गाँऊँ मूड़ को घर मेरा मलेथ
पालंगी की बाड़ी मेरा मलेथ

लासणा की क्यारी मेरा मलेथ
गाइयों की गोठ्यार मेरा मलेथ
भैंसी को खुरीक मेरा मलेथ
बाँदू का लड़क मेरा मलेथ
बैखू का ढसक मेरा मलेथ

—‘ओ भंडारी राजपूत, कैसा है तेरा ‘मलेथ’ गाँव ?

देखने में भला लगता है, साहबो, मेरा मलेथ ।

ढलकती नहीं है धाँ—मेरा मलेथ ।

गाँव की निचान में घर है मेरा—मेरा मलेथ ।

पालक की बाड़ी है—मेरा मलेथ ।

जहसुन की क्यारी है—मेरा मलेथ ।

गौआँ की गोठ है—मेरा मलेथ ।

भैंसों की भीड़ है—मेरा मलेथ ।

कुमारियों की टोली है—मेरा मलेथ ।

वीरों का धक्कमधक्का है—मेरा मलेथ ।’

एक ‘माँगल’ गीत में उस अवसर की भाँकी प्रस्तुत की गई है जब पार्वती तुल-
हिन बनी थी—

शिवजी पैट्या मांगल्युण्यूं का थला ध्यूला
कैसो देखेलो पारबती जी को रूप
गूँ ठड़ी देखेली गोल्याली गार
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
फिलोरो देखेली दूय सी मुंगरे
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
जांगुड़ी देखेली केला की सी गोदगी
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
कमरी देखेली हरिनी समान
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
छाती त देखेली कैलाम समान
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
भुजा त देखेली बड़ सी बडारी
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
ओठणी देखेली दालिमा सी फूल
वैसो देखेलो पारबती जी को रूप

धरती गाती है

दांतुणी देखेली जाई की सी कली
 वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
 नकदोड़ी देखेली जौ लाँसी भंकोरी
 वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
 कनफुले देखेली जौलसी घुघती
 वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
 आँखड़ी देखेली कमल सी पाँखड़ी
 वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
 भृकुटी देखेली धनुस की-सी रेख
 वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
 माथी देखेली सोवन की सी पाटी
 वैसो देखेलो पारबती जी को रूप
 केस देखेली सौण की सी रुमभुम
 वैसो देखेलो पारबती जी को रूप

—‘शिवजी मांगल्य-स्थल (ससुराल) को चले तो सोचने लगे-

कैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ?

एड़ी दीखेगी गोख-गोख मरमर सी

वैसा दीखेगा पार्वती का रूप ।

पियङ्गली दीखेगी दूब के रंग की मुंगरी सी

वैसा दीखेगा पार्वती का रूप ।

जंघा दीखेगी केले की पोरी सी

वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।

कमर दीखेगी हिरनी की सी

वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।

वक्षःस्थल तो दीखेगा कैलास के समान

वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।

भुजायें तो दीखेंगी घट वृक्ष की शाखाओं सी

वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।

होंठ दीखेंगे अनार के फूलों से

वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।

दाँत दीखेंगे चमेली की कलियों से

वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।

नासिकाएं दीखेंगी तुरहियों के जोड़े-सी

वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
 कर्णफूल दीखेंगे पंजुकी पत्तियों के जोड़े से,
 वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
 अखिल दीखेंगी कमल की पंखड़ियों सी,
 वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
 भृकुटी दीखेगी धनुष की रेखा सी,
 वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
 माथा दीखेगा स्पर्श-पटिया सा,
 वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप ।
 केश दीखेंगे सावन की रिमरिम से,
 वैसा दीखेगा पार्वती जी का रूप !

भुमैलो नृत्य की तरंगमें जब प्रेम, यौवन और सौंदर्यकी त्रिवेणी प्रकृति की पृष्ठभूमि में सजीव हो उठती है, यों भी होता है कि एकाएक भुमैलो गीत धार्मिक भाव-धारा की ओर मुड़ जाय। एक भुमैलो गीत में बद्रीनाथ का बखान है। इस गीत की अन्तिम पंक्ति में टिहरी नरेश की ओर संकेत किया गया है—

बालो छ बदरी, भुमैलो
 परबत आई, भुमैलो
 गढ़वाल आई, भुमैलो
 दिनु को दाता, भुमैलो
 राजा को सामी, भुमैलो

—‘बदरी बालक है—भुमैलो !

वह पर्वत पर आ गया—भुमैलो !

वह गढ़वाल में आ गया—भुमैलो !

वह दीनों का दाता है—भुमैलो !

वह राजा का स्वामी है—भुमैलो !’

किसी-किसी गीत में देश की याद प्रस्तुत की गई है। भले ही कोई रोजगार की तलाश में पहाड़ से उतर कर नीचे मैदानी प्रदेश में चला जाय, घर की याद तो पीछा नहीं छोड़ती—

कख होली मेरी डांडी व कांठी
 कख कुयेड़ी सौण की
 रुमभुम बरखा छुम छुम छाया
 मैं सणि सुभी छ रोण की
 डांडियों का बीच ग्वालों का गीत

खुद बढ़ाई मन की
आलण का बीच छानी मां होली
भैंसी बियाई सौण की
भट्ट बुकांदा दूद तचौंदा
गोदगी खांदो नौण की

—'कहां होंगी मेरी ऊँची-नीची पहाड़ियाँ ?

कहाँ होगा वह सावन का कोहरा ?

वह रिमरिम वर्षा, वह पानी का छुम-छुम उछाल,
उसे याद करते-करते मुझे रोने की सूझी है ।

पहाड़ियों के बीच वह ग्वालों का गीत

मेरे मन में देश देखने की भूख बढ़ाता है ।

वर्षा के घास के बीच झोंपड़ी में होगी

वह सावन में बियाई हुई भैंस ।

वे भुना हुआ अनाज खाते होंगे, दूध पीते होंगे,

और वे मखन का चक्का खाते होंगे ।'

यदि कोई पूछ बैठे कि गढ़वाल का सबसे लोकप्रिय गीत कौनसा है तो मैं कहूँगा मूँगा का गीत । यह मूँगा कौन थी ? किस ग्राम की थी ? इन प्रश्नों का उत्तर मेरे लिए सहज नहीं । बस यह समझ लीजिए की मूँगा का नाम आते ही गाने वालों के सम्मुख मूँगा का चित्र सजीव हो उठता है । जैसे उस समय फिर से किसी नई प्रेम-गाथा का आरम्भ होने लगा हो—

चलदी किनि चलदी, मूँगा, डाँड़ का सौड़ू मां
तेरी माई को रैवार आई गया नेगियों का नौना मां
घर औणो भूली गये, मूँगा, यारू की बातू मां
भल भल सिकार खांदी, मालू का पात मां
मोड़ू या जलेबी खांदी, मालू का पात मां
भल भल मिठाई खांदी मालू का पात मां
घर औणो भूली गये, मूँगा, यारू की बातू मां
सारी राती काटी, मूँगा, डाँड़ का सौड़ू मां
सर मूँगा मिजाजी मूँगा डाँड़ का सौड़ू मां
सर मूँगा पछमियानी मूँगा डाँड़ का सौड़ू मां

—'चलती हो या नहीं, मूँगा, 'डाँड़' के खुले स्थान में ?

तेरी मां का सन्देश आगया 'नेगी' लक्ष्म के हाथ ।

तुझे घर आना भूल गया, मूँगा, यारों की बातों में ।

भला-भला शिकार खाती हो मालू के पत्ते में ।

मुड़ी हुई जलेबी खाती हो मालू के पत्ते में ।

भली-भली मिठाई खाती हो मालू के पत्ते में ।

घर आना भूल गया, मूँगा, बारों की बातों में ।

सारी रात बाहर गुज़ार दी, मूँगा, 'डांडू' के खुले स्थान में ।

रूपसी मूँगा, मिज़ाजी मूँगा, 'डांडू' के खुले स्थान में ।

रूपसी मूँगा, 'बिछम की ओर की मूँगा, 'डांडू' के खुले स्थान में !'

एक गीत का जन्म 'घीमी लौंदो' के आलाप पर हुआ है। 'घीमी लौंदो' का शब्दार्थ क्या है, यह कोई नहीं बता सका। इसका अर्थ कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि इसने हृदय के तार दिखा दिए हैं—

घीमी लौंदो, ए दिदा सुरीजो, घीमी लौंदो

दुतारी को तार टूटियो, घीमी लौंदो

ये छन्द मैतण होय, घीमी लौंदो

एक दिन मरी जाणा, घीमी लौंदो

सारङ्गी को तार टूटियो, घीमी लौंदो

घीमी लौंदो, ए दिदा सुरीजो, घीमी लौंदो

आधा रोटी रोज खांदी, घीमी लौंदो

सोने को पीतल होई, घीमी लौंदो

पीतल को लोहा होई, घीमी लौंदो

लोहा को माटी होई, घीमी लौंदो

घीमी लौंदो, ए दिदा सुरीजो, घीमी लौंदो

—'घीमी लौंदो, ओ सुरीजो भाई, घीमी लौंदो !

दुतारे का तार टूट गया—घीमी लौंदो !

मायके में मेरी यह दशा हुई—घीमी लौंदो !

एक दिन मैं मर ही जाऊँगी—घीमी लौंदो !

सारंगी का तार टूट गया—घीमी लौंदो !

घीमी लौंदो, ओ सुरीजो भाई, घीमी लौंदो !

आधी रोटी रोज खाती हूँ—घीमी लौंदो !

सोने से पीतल हो गई हूँ—घीमी लौंदो !

पीतल से लोहा हो गई हूँ—घीमी लौंदो !

लोहे से मिट्टी हो गई हूँ—घीमी लौंदो !

घीमी लौंदो, ओ सुरीजो भाई, घीमी लौंदो !'

'बाजूबन्द' गीतों की संख्या सबसे अधिक है। इनकी रचना का क्रम सदैव

चलता रहता है। जैसे तकली से तार निकलता है, कुछ ऐसे ही गाने वाले के हृदय से 'बाजूबन्द' के तार कभी खत्म ही नहीं होते। इन गीतों में 'सूआ' शब्द सुग्गे या तोते के अर्थ में नहीं बल्कि प्रेमिका के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

गंगा जी को औत

तराजू नो तोलि लैणी, कै कि माया बौत

—'गंगा जी का भंवर,

तराजू में तोल कर देखेंगे कि किसका प्रेम अधिक है।'

खलियाण दाँदो

माया लाँदा तोय माँ, तू गंगा को जाँदो

—'खलिहान की सीमा,

मैं तेरे साथ प्रेम में बंध गई, तुम गंगा की ओर जा रहे हो।'

राजा जी को राणी

रगड़ू नो सूकि जाणा, रई स्थलवाणी पाणी

—'राजा जी की रानी,

बरसाती पानी सूख जायगा, झरने का पानी सदैव रहेगा।'

सड़के की ऊँटणी

तेरी मेरी माया सूआ, चूलू की चटणी

—'सड़के की ऊँटनी,

तेरा मेरा प्रेम, है सखी, चूलू की चटनी-सा है।'

मौली जाली दूब

तेरा मन माया लाण, मेरा मन खूब

—'दूब के अंकुर निकल आये,

तेरा मन प्रेम करने को है, मेरा मन भी खूब है।'

अँखोड़ू की टूकू

देणी लैणी फूँडो फूँको, मैं माया कू भूकू

—'अँखरोट की कोपल,

देने लेने को दफा करो, मैं तो प्रेम का भूखा हूँ !'

भँगोरा की बाल

जवानी भरी सुरेसी, जैसा गौँ का ताल

—'भँगारा अमाज की बाली,

ओ सुरेसी, तेरा जीवन भर चुका है, जैसे ग्राम का तालाब।'

दाबुड़ा की धार

कखन दीखेण पँछी, देवता की चार

धरती गाती है

—‘हँसिये की धार,
तुम कहाँ से दिखाई दे गए, ओ पक्षी, देवता के समान !’

दूध की जमुन
जनम जनम हूँ गा माया को जतन

—‘दूध के लिए जामन,
जन्म-जन्म के लिए रहेंगे, मूँ गा, प्रेम के हाव-भाव !’

धरती अमर
तेरी मेरी माया सूआ, लपलप चमर

—‘धरती अमर है
तेरा मेरा प्रेम हे सखी, हिलता-डोलता दँवर है !’

हाती बुणी माणी
माया मसूरी मां लाई, टुटली तो जाणी

—‘माणी (अनाज मापने की टोकरी) हाथ से बुन ली,
मसूरी में प्रेम जगाया है, टूट गया तो तुम जानो !’

छाती तरसानी
अंग्रेज को जादू चल लो, दूध होयो पाणी

—‘तरसाने वाला वचःस्थल,
अंग्रेज का जादू चल गया, दूध पानी हो गया !’

मंडुआ की धूँसी
अपना जोबन देखी, आफ़ी रूँछे खूसी

—‘मंडुए की भूसी,
अपना यौवन देख कर तुम स्वयं खुश रहती हो !’

चाँदी को बटण
तोय कैन सिकाये सूआ, माया को जतन

—‘चाँदी के बटन,
तुम्हें किसने सिखाए, हे सखी, माया के यत्न ?’

भंगोरा की घाण
नै कि माया घनाघोर. आंखियों माँ पैछाण

—‘भंगोरा अनाज का ढेर,
जिसका घनघोर प्रेम होगा, आँखों से ही पहचान लिखा जायगा !’

कस्तूरी बेण
मसूरी भाग्याणी, मैं आया चाँदी लैण

धरती माती है

—‘कस्तूरी की थैली

ओ भाग्यशालिनी मसूरी, मैं चांदी लेने आया हूँ।’

परोठो दूद को

दौड़ी आया धरती, तुमारी खुद को

—‘दूध का परोठा

मैं दौड़ कर आया हूँ, ओ धरती, तुम्हें देखने की अभिलाषा से।’

सड़कि को घूम दा

सदा नी नि रैनी सूआ, जवानी की धूम दा

—‘सबक का घुमाव,

सदा नहीं रहेगी, ओ सखी, यौवन की यह धूम।’

पहाड़ों में सबक थोड़ी-थोड़ी दूर के बाद घूमती हुई चलती है। प्रेमी का भाव कदाचित् यह है कि सबक की भोंति ही आयु में भी कितने ही घुमाव आते हैं। अतः यौवन के चढ़ाव के पश्चात् शीघ्र ही उतार का घुमाव आजाता है। इसलिए जितनी जल्दी हो सके, यौवन का वास्तविक आनन्द उठा लेना चाहिए।

: ३ :

‘सबक’ की कल्पना आज नया रंग लिये हुए समस्त गढ़वाल को जोड़ रही है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने ‘गढ़वाल की एक यात्रा’ शीर्षक लेख में गढ़वाल की इस माँग का विशेष रूप से उल्लेख किया है—

“गढ़वाल का टिका हुआ चित्र एकांत और निर्धनता का चित्र था। आश्चर्य होता था कि हम बाकी संसार के कितने समीप थे और फिर भी कितने अलग। बीस मील अब एक कठिन दिन की यात्रा चित्रित करते थे जैसा कि सहस्रों वर्ष से होता चला आया था। इन बीते युगों में मुश्किल से यातायात में कोई उन्नति हुई होगी। यात्रा पैदल की जाती थी, या कभी-कभी घोड़े पर। केवल तार का सिलसिला ही विज्ञान और वर्तमान संसार का ध्यान दिलाता था। इस विस्तृत जनपद में कच्ची सबकों का अभाव विचित्र प्रतीत होता था, और कोई आधी शताब्दि से एक अच्छी सबक के लिए दिन-दिन ऊँची होती माँग की जाती रही है। इसके सम्बन्ध में हम पहले ही सुन चुके थे। पर इसके पीछे जो जोश था उसे हमने पूरी तरह समझा नहीं था। हर कहीं हर तरह के लोगों ने सबक के लिए माँग की, प्रार्थना की, पुकार की। हर बात उनके लिए दूसरा दर्जा रखती थी और स्वराज्य ने उनके लिए पहाड़ों के सीने से नीचे मैदानों की ओर उतरती हुई सबक का रूप धारण कर लिया था। उन्होंने बताया कि यह उनके जीने और मरने का मामला है। हमें सबक दो, नहीं तो हम मरते हैं—वे आग्रह करते थे।”

स्वतन्त्र भारत में गढ़वाल अवश्य उस सबक पर अग्रसर होगा जिसके स्वरूप वह

युग-युगान्तर से देखता आया है। सबक आज उन्नति की प्रतीक है, और इसी अर्थ में इस का प्रयोग नये गढ़वाली लोकगीतों में अवश्य होगा।

गढ़वाल का चित्र मेरी कल्पना में सदैव सजीव हो उठता है। वे बट्टीनाथ, केदारनाथ और अष्टिकेश के सुन्दर दृश्य, गंगा का बचपन, गंगा का यौवन, वे पहाड़ और घाटियाँ, वे चीड़ के वृक्ष, वे छलछलाती वेगवती नदियाँ, देवप्रयाग में भागीरथी और अलकनन्दा की गल्लबहियाँ, वह दोनों बाहनों का एक हो जाना, उनका पहले नामों का मोह छोड़ कर गंगा नाम अपना लेना, अलकनन्दा के किनारे खुली घाटी में बसा हुआ श्रीनगर, पहाड़ी पर मुकुट की तरह रखी हुई पौड़ी नगरी में दूर उत्तर की ओर हिमालय के बर्फीले शिखरों के दर्शन, बट्टीनाथ और केदारनाथ, चौखम्बा और त्रिशूल, बलिक नन्दादेवी की झाँकी भी, वे अनगिनत ग्राम, किम्मान स्त्री-पुरुष, बालक, युवा और वृद्ध—और उनकी आँखों में झाँकता हुआ गढ़वाल। यह चित्र मुझे प्रिय है। इस चित्र को मैं अपनी कल्पना के कला-भवन में सदैव एक महत्त्वपूर्ण स्थान देने के लिए उत्सुक रहूँगा। नृत्य और गीत इसे सदैव एक सवाक् चल-चित्र का रूप देते रहेंगे।



भारतमाता

: १ :

उत्तर से लेकर दक्षिण तक, और पूर्व से लेकर पश्चिम तक, चौखूँट भारतमाता एक-सी परम्पराओं पर गर्व करती है; एक-सी आशा निराशा, एक-से सुख दुःख, एक-से संस्कार, उत्सव और मेले उसकी एकता के प्रतीक हैं।

प्रान्त-प्रान्त के लोकगीतों में भारतमाता की एक-सी माँकी देखकर और प्रत्येक भाषा में भारतमाता के एक-से हृदय-स्पर्शी बोल सुनकर हम गद्गद् हो उठते हैं। युग युगान्तर से भारतमाता की सन्तान एकता का अनुभव करती आई है।

चरखे के गीत प्रान्त-प्रान्त में परस्पर मेल खाने वाले स्वरों में युग-युगान्तर से प्रचलित हैं। चौखूँट जीवन की समस्याओं का एक-सा समाधान जनता की सामूहिक प्रतिभा का सूचक है। सभी प्रान्त लोक-साहित्य में साझेदार हैं। श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी ने ठीक ही कहा है—“भारत के सौभाग्य से, लोक-संस्कार प्रान्त-प्रान्त में बहुत करके एक ही किरम के थे। इसलिए कला और साहित्य के अक्षर भी एक ही तरह के निकले। अपभ्रंश का साहित्य सारे उत्तर में एक ही तरह का था; दोहे जैसे गुजरात में थे, वैसे ही आसाम में थे; और जो गरबा और बारहमासी हमारे गुजरात की विशेषता माने जाते हैं, वे थोड़े से हेर-फेर के साथ हर एक प्रान्त के लोक साहित्य में मिलते हैं। हम यह समझ बैठे हैं कि ‘गरबा’ नृत्यगीत का इजारा गुजरात की स्त्रियों ने ही ले रखा है।

पर बात ऐसी नहीं है। शारंगधर ने प्रमाण दिया है कि पार्वती ने शंकर भक्त बाबासुर की लक्ष्मी उषा को 'लास्य नृत्य' सिखाया था और उसने सौराष्ट्र (गुजरात) की स्त्रियों को सिखाया। मगर अभी-अभी जब मैंने अपनी आँखों से देखा, तब जाना कि आन्ध्र, तामिळनाड और केरल में भी ये असुर कन्याएं आकर रही थीं, और वहाँ की स्त्रियों ने भी ऐसे ही गरबा-नृत्यगीत हमारे जाने बिना ही सीख लिए थे। हमारा हज़ारा घटकलपण्य था। भारतीय संस्कारों का जो समुद्र चारों तरफ उछलता हुआ लहरा रहा है, जब वह हमारे किनारे पर डालता, तो हम उसे अपना ही तालाब मान बैठे।"

आन्ध्र देश के संस्मरण मुझे सदा प्रिय रहेंगे। चरखे का गीत, जिसे आन्ध्र नारी न जाने कब से अपनी किसी सहेली को सम्बोधन करती हुई गाती चली आ रही है, आज भी मेरी आत्मा को छूँछू जाता है—

मोगुडेन्दुके नारी
असल मोगुडेन्दुके
राटम सल्लङ्गुण्टे
रप्पिस्ता गोलकोण्डा
मोगुडेन्दुके नारी
असल मोगुडेन्दुके

—'पति काहे को, ओ नारी
सचमुच पति काहे को ?
चरखा सही सजामत रहा
तो मैं गोलकोण्डा को यहीं खींच लाऊँगी !
पति काहे को, ओ नारी
सचमुच पति काहे को ?'

इस आन्ध्र लोकगीत का जन्म उस युग में हुआ होगा जब कि गोलकोण्डा नगर खूब मालदार था। चरखा कातती नारी ने एक दिन यह समझ लिया था कि वह शरीबी के चंगुल में कभी न फँसेगी, चरखा उसे आर्थिक चिन्ताओं में उलझने से सदा बचावा रहेगा। और तो और, उसे पति की कमाई की भी परवाह नहीं। उसका चरखा ही उसके घर में गोलकोण्डा की सी बेफिक्री हाज़िर कर दिखायगा।

प्रान्त-प्रान्त के लोकगीत पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि भारत का लोक-मानस एकता का हामी है। ठीक ही तो है। प्रान्त-प्रान्त का भाग्य परस्पर बंधा हुआ है। एक-से अभ्र, एक-सी मुस्कान गीतों में व्यापक जीवन को छूँछू जाने वाला डक़्कास, गीतों के ताने-बाने में समस्त हिन्दुस्तान के सुख-दुःख के रस—यह सब देखकर प्रान्त-प्रान्त की आपसवारी का जो ज़बरदस्त प्रमाण मिलता है, उसे मानने से इन्कार करना आसान नहीं।

कहां से आते हैं इतने गीत ? स्मरण-विस्मरण की आंखमिचौनी से । कुछ अइहास से । कुछ उदास हृदय से । कहां से आते हैं इतने गीत ? जीवन के खेत में डगते हैं ये सब गीत । कल्पना भी अपना काम करती है, रसवृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिजोरा भी—पर ये सब हैं खाद । जीवन के सुख, जीवन के दुःख, ये हैं लोकगीत के बी ।

गरीबी के गीत तो बहुत हैं । युक्त-प्रान्त में बरसात में गाई जाने वाली एक 'कजली' में हम एक देहाती नारी को अपनी आप-बीती सुनाते पाते हैं—

गई बिकाय हमरी भुलनिया ना
भुलनिया ना, भुलनिया ना
एक तो पिया छकमार
दूजे बन्द कारबार
गई बिकाय हमरी भुलनिया ना
आयल तीजक त्यौहार
कैसे करूं मैं सिंगार
रैहन बाटे 'जवा' 'टीक' 'पचमनियाँ' ना
किहेसी देहियाँ उधार
मोर ऐसन भरतार
हारायल मोर कलया क कङ्गनिया ना
सखि पहिरे गले हार
लखि ललचै जीया हमार
साहूकार कोई मिलैना बिससिया ना

— 'मेरी भुलनी बिक गई
भुलनी ! हाय वह भुलनी !
एक तो पति जुआरी ठहरा
दूसरे कारबार बन्द हो गया,
मेरी भुलनी बिक गई ।
तीज का त्यौहार आ पहुँचा,
मैं कैसे सिंगार करूँ ?
'जवा' 'टीक' और 'पचमनियाँ' रेहन रखे जा चुके हैं ।
मेरी देह पर सुन्दर कपड़ा भी तो नहीं है,
मेरी कलाई का कंगन भी छिन गया है,
मेरी सखी गले में हार पहन रही है—
देखती हूँ तो मेरा जी ललचाता है ।

कोई दिवाली साहूकार भी तो नहीं मिल रहा !'

जुआरी पति एक-एक करके बेचारी नारी के सब गहने उतारता चला गया ।
भुखनो' ही रह गई होती तो आज वह किसी तरह तीज के त्यौहार पर अपनी सखी के
श्रृंगार की ओर देखकर यों ललचा न डठती । गरीब नारी क्या तीज मनाएगी ? और फिर
ऐसा कोई साहूकार भी तो नहीं जो उस पर विश्वास करके उसे एक-दो दिन के लिए गहने
पहनने को दे दे ।

अंग्रेजी काल का एक गीत, जिसमें ग्वालिबर रिवास्त की स्त्री ने अपना दुःख
सुनाया है, गरीबी के इतिहास का एक नया पृष्ठ है—

राजा थारा राज में तो
खोगारी घड़ाई रे
फरंगी का राज में तो
खस लीधी रे

—'ओ राजा ! तेरे राज में
मैंने हंसखी बनवाई थी ।
अंग्रेज के राज में
वह छिन गई ।'

पर गरीबी और दुःख के गीत समस्त जीवन पर कभी नहीं छा सकते । आशा का
मुस्काना चेहरा भी अपनी फलक दिखता जाता है, बीच-बीच में । एक आन्ध्र लोकोक्ति की
आवाज़ भी सुन लीजिये—

कदुरु तिरिगिना
काळ माडिना
करुवु लेदु

—'तकला चलने पर
मथानी चलने पर
अकाल नहीं पड़ने का ।'

पंजाबी लोकगीतों में स्थान-स्थान पर चरखे का अभिनन्दन हुआ है । प्रायः स्त्रियाँ
किसी एक घर में इकट्ठी होकर चरखा कातती हैं; यह चरखा-संघ 'प्रिजन' या 'तिजन' कह-
लाता है । परदेस जाते पति को सम्बोधन करके स्त्री ने जो बात कही थी वह एक गीत में
आज भी जीवित है—

जे उट्टु चल्लियों चाकरी, चाकरी वे माहिया
सान्नु वी ले चल्ली नाल वे
अस्त्रियाँ नू नीद क्यों न आई वे
तू करेगा चाकरी, चाकरी वे माहिया

मैं कत्तांगी सोहणा सूत वे
अखियाँ नूँ नींद क्यों न आई वे
इक टका तेरी चाकरी, चाकरी वे माहिया
लख टके दा मेरा सूत वे
अखियाँ नूँ नींद क्यों न आई वे

—'यदि नौकरी के लिए उठ चले हो, नौकरी के लिए ओ प्रीतम !

तो मुझे भी अपने साथ ले चलो ।

अजी ओ मेरी आँखों को नींद क्यों नहीं आई ?

तुम नौकरी करोगे, ओ प्रीतम !

मैं काता करूँगी सुन्दर सूत ।

अजी ओ मेरी आँखों को नींद क्यों नहीं आई ?

तुम्हारी नौकरी होगी एक रुपये की ओ प्रीतम !

मेरा सूत होगा एक लाख रुपयों का ।

अजी ओ मेरी आँखों को नींद क्यों नहीं आई ?'

एक राजस्थानी लोकगीत में हम एक स्त्री को परदेसी पति की याद में गाते समय चरखे का एक चिरंजीवी गान करते सुन सकते हैं । लोकजीवन की यह अनुभूति एक बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक तस्वीर हमारे सम्मुख लाने में समर्थ हुई है—

चरखो तो ले ल्यूँ, भंवरजी, राँगलो जी
हाँ जी ढोला, पीढ़ा लाल गुलाल
तकवो तो ले ल्यूँ जी, भंवर जी, बीजलसार को जी
ओ जी म्हारी जोड़ी रा भरतार
पूणी मंगा ल्यूँ जी क बीकानेर की जी
म्होरे म्होरे रो कातूँ, भंवर जी, कूकड़ी जी
हाँ जी ढोला, रोक रुपइये रो तार
म्हे कातूँ थे बैठा विणज ल्यो जी
ओ जी म्हारी लाल। नणद रा ओ वीर
अब घर आओ प्यारी ने पलक न आवड़े जी
गोरी री कमाई खासी रांडिया रे
हाँ ए गोरी, कै गाँधी कै मणियार
म्हे छ़ाँ बेटा साहूकार रा जी
ए जी म्हारी घणीए प्यारी नार
गोरी री कमाई सूँ पूरा न पड़े जी

—‘एक रंगीला चरखा ले लूँगी मैं, ओ प्रीतम !
 अजी ओ ढोला, एक लाख-गुलाल पीड़ा ले लूँगी ।
 उत्तम, पक्के लोहे का, ओ प्रीतम, मैं तकला ले लूँगी,
 अजी ओ मेरी जोड़ी के भरतार !
 बीकानेर से पुनियां मंगवा लूँगी,
 एक-एक मोहर के दाम की कातूँगी एक-एक कुकड़ी ।
 अजी ओ ढोला, एक-एक रुपये का होगा एक-एक धागा ।
 मैं कातूँगी और तुम बैठे इसका व्यवसाय करना ।
 अजी ओ मेरी लाल ननद के भाई ! जख्मी घर आओ,
 तुम्हारी प्यारी को अब पल भर भी चैन नहीं ।’
 ‘स्त्री की कमाई खायगा कोई नामर्द,
 या कोई इतर बेचने वाला, या कोई मनिहार, ओ रूपवती !
 मैं तो साहूकार का बेटा हूँ ।
 हे मेरी बहुत प्यारी नारी !
 पत्नी की कमाई से काम नहीं चलता ।’

राजस्थानी नारी की चरखे के प्रति यह आस्था आज भी कायम है, और जब वह यह गीत गाती है पुरुष के उत्तर पर मन ही मन इतना कसकर रह जाती है ।

अब दो कोंठ गीतों का रसास्वादन कर लीजिए । कोंठ सरीखी आदिम जाति के मुख से जो गुनसूर उदयगिरि एजेंसी (उड़ीसा) में बसी हुई है, चरखे का गान सुनकर भला कौन पुष्कित नहीं हो उठेगा ।

पहले गीत में सोने के चरखे का चित्र प्रस्तुत किया है—

सुना डोयें तानी सजाँगा ओस्पीमानूँ
 तीरी सुडेंगी तानी सुकाँगा ओस्पीमानूँ
 रूपा ईडू तानी सजागा ओस्पीमानूँ
 काली सोरू तानी जिलमिलिगा ओस्पीमानूँ
 बुहाड़ी सिएडा टाटानाई राजाली
 नोटका कोगाई एस्पीमाने

—‘सोने के चरखे में हीरे चमक रहे हैं ।

निर्मल आकाश में तारे चमक रहे हैं ।

चाँदी के घर में हीरे चमक रहे हैं ।

काले जंगल में जुगनू चमक रहे हैं ।

नीले वस्त्र पहनकर रानी

बारीक सूत कात रही है ।’

छरती गाती है

दूसरे बोंठ लोकगीत में एक दम्पति की गाथा गाई गई है जो एक दूसरे को राजा रानी कहकर बुलाते हैं—

देहाने सांजामाने झोयें
एम्बाई गाड़ीगीते सांजा झोयें
राजाली नुटका एस्पीने
सांजा सिएडा टाटाना
देहाने सांजा माने कोपा
एम्बाई गाड़ीगीते सांजा कोपा
राजेंजू ओस्कीमानेंजू
सांजा सिएडा टाटाना
ओ राजाली, ओ राजाली
नेगी नूटका गिम्मूला
झोयें इसिगी सांजा माने
एहंगी नुटका गिम्मूला
ओ राजेंती, ओ राजेंती
त्ताम्बेरका ड़ाई
कोगाई नूटका देहाने
विल्लू एसे साड़ा साजीने
झोयें गापसी साजीने
ओ राजेंती, ओ राजेंती
नेगी सिएडा ओसामू
कोपा इसिगी सांजामाने
एहंगी सिएडा ओसामू

—'चरखा बहुत सुन्दर है,
किसने बनाया है यह सुन्दर चरखा ?
रानी सूत कात रही है
सुन्दर वस्त्र पहन कर ।
बहुत सुन्दर करघा है
किसने बनाया है यह सुन्दर करघा ?
राजा बस्त्र बुन रहा है
सुन्दर वस्त्र पहन कर ।
'ओ रानी ! ओ रानी !
अच्छा सूत कातो ।

जितना सुन्दर चरखा है
 उतना सुन्दर सूत कातो ।'
 'ओ राजा ! ओ राजा !
 मेरा सूत मेरे केशों से भी बारीक है ।
 मेरा चरखा चञ्चलता है
 तो हवा से बातें करता है ।
 ओ राजा, ओ राजा !
 अच्छा कपड़ा बुनो ।
 जितना सुन्दर कपड़ा है
 उतना सुन्दर कपड़ा बुनो ।'

अन्त में दो तामिल लोकगीत भी सुनिष् । पहले गीत में एक घायल पक्षी शाखान जाति के किसी व्यक्ति की शिकायत कर रहा है—

शाखान करिमुडिवान
 शिरड्ड अरुत्त विट्टान
 कदवड्ड तिरवेण्ड
 कारणत्तड्ड केलेण्ड
 विलकड्ड येतेण्ड
 वेदनयड्ड तीरेण्ड
 वोलाड्ड शलशलेनगा
 वोडी वन्दालाहादो
 पालड्ड शलशलेनगा
 परन्द वन्दालाहादो

—'शाखान ने, जिसने अन्त में जलकर कोयला बनना है,
 मेरा पंख काट डाला ।

द्वार खोजो री,
 कारण सुनो री,
 दीपक जलाओ री
 वेदना मिटाओ री ।'

'ताड़ पत्तों के खड़खड़ करते ही
 तुम दौड़कर नहीं आ सकते थे क्या ?
 सूखे ताड़ पत्तों के खड़खड़ करते ही
 तुम डड़कर नहीं आ सकते थे क्या ?'

गीत के दूसरे भाग में घायल पक्षी का उत्तर परोक्ष सूझ-बूझ का परिचायक है ।

धरती माती है

समस्त गीत करुणा में ढूँढ़ा हुआ है। शाणान जाति के लोग रस्सी के पट्टों के सहारे पीठ के बल देखते-ही-देखते ऊँचे-से-ऊँचे वृक्ष पर चढ़ जाते हैं। ताड़ का रस पीकर पक्षी मस्त बैठ जाता होगा। योंही शाणान ने ताड़ की चोटी पर कुहवाड़े से वार किया। पक्षी का पंख कट गया। यह तो अच्छा हुआ कि वह उड़ गया। पत्नी के पास पहुँचने पर जब वह पक्षी जल-भुनकर कहता है—‘शाणान ने जिसने जलकर कोयला बनना है, मेरा पंख काट डाला’ तो वह यों शाणान को गाली देकर अपने दिल का गुस्सा निकालता है।

दूसरा तामिल लोकगीत एक खोरी है—

पाल वलिम तोट्टिलिट्ट
पवल वड्डम दानिशइत्त
पाल वण्णप्पट्टु मिट्टे न
पशंगिलिये कण वलराय
आरिएड कावेरी
अदन नडुवे शीर'गम्भ
कूरु हिन्नर तामरये
कुविन्दुडने कण वलराय्
शिप्पि हले शिरित्तुर'गम
तेन कडलिन शिरुमुत्ते
शेप्पिलुरुम पालरुन्दि
शेम्मलरे कण वलराय्
पुदुमलरिल ते'डुत्त
पूशलिड्डुम वण्डिनमे
पुदुमलरहल वरुमलवुम
पोनवण्डे कण वलराय्
वे'ण्णालव पालशोरिय
मिन्नुमणि कणशिमिट्ट
वेणमलरे इदल कुवित्त
मेल्लगइल कण वलराय्

—‘वृक्ष तेरे मुँह से बाहर आ रहा है, मैंने पाखना लगाकर
मुँगे की जंजीर जोड़ कर
दूधिया रंग का रेशम भी बिछा दिया है।
ओ हरे सुग्गे ! सो जाओ।
कावेरी नदी की दो शाखाएँ हैं,
उनके बीच है श्रीरंगम,

वहाँ संकुचित होने वाले कमलों के समान
 तुम भी अपनी पलकें भींचकर सो जाओ ।
 सीप में हंसकर सोने वाले
 ओ दक्षिण समुद्र के नन्हे-मुग्ध मोती !
 कस्तूरी में भरा हुआ दूध पीकर
 ओ मेरे लाख पुष्प ! सो जाओ ।
 नये पुष्प में सरस लेकर
 ओ शोर मचाने वाले भ्रमर समूह !
 नये पुष्पों के खिलने तक
 ओ सुनहले भ्रमर ! सो जाओ ।
 श्वेत चाँदनी दूध बरसा रही है,
 चमकदार तारे आँखें झपका रहे हैं,
 ओ श्वेत पुष्प ! पलकें भींचकर,
 नरम बिछौने पर सो जाओ ।'

तामिल लोकगीत भाषा की दृष्टि से जितने अपरिचित प्रतीत होते हैं, उतने ही ये हमारे समीप आ जाते हैं। वही लोकमानस, जो समस्त भारत में चतुर्दिश बोलता है, तामिल लोकगीतों में भी अपने स्वर छेड़ता है।

ऊपर ऊपर से देखें तो चौखूँट विविधता के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु देखने वाली का ध्यान आकर्षित नहीं करती। पर भीतरसे देखें तो जोड़ने वाले धागों की महत्ता समझ में आ सकती है। कहाँ बंगला, कहाँ मराठी ? कहाँ गुजराती, कहाँ पंजाबी ? कहाँ उड़िया, कहाँ तेलुगु, तामिल, कन्नड़ और मलियाली ? अनेक भाषाएँ हैं। बल्कि एक-एक भाषा के अनेक भेद हैं। फिर भी बहुभाषी भारतमाता की गतिविधि में अद्भुत समानता रही है, और यह समानता सदैव रहेगी। यही समानता अथवा एकता भारतमाता की सबसे बड़ी विशेषता है। दूर-दूर तक भेदानों में पँले हुए गांव, इन गाँवों में रहने वाली जनता, रीति-रिवाज और विश्वास, इन रीति-रिवाजों और विश्वासों को परस्पर पिरोता हुआ एकता का सूत्र—जनता के पुरातन गान और नृत्य—इस समस्त धाती पर भारतमाता गर्व करती है।

: ३ :

भारतमाता की विवेचना करते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने बड़े मार्मिक शब्दों में एकोन्या चित्र प्रस्तुत किया है—

“जब मैं किसी जलसे में पहुँचता तो मेरा स्वागत ‘भारतमाता की जय’ के नारे से किया जाता। मैं लोगों से अचानक पूछ बैठता कि इस नारे से उनका क्या मतलब है। यह भारतमाता कौन है जिसकी ये जय कहते हैं ? मेरे ध्यान से उन्हें कुतूहल

धरती माती है

और आश्चर्य होता और फिर कुछ उत्तर न बन पड़ने पर वे एक-दूसरे की ओर या मेरी ओर देखने लग जाते। मैं प्रश्न किये जाता। आखिर एक दृष्टे-कष्टे जाट ने, जो अनगिनत पीढ़ियों से खेती करता आया था, उत्तर दिया कि भारतमाता से उसका आशय धरती से है। कौनसी धरती? खास उनके गांव की धरती, या ज़िले की, या प्रान्त की, या समस्त भारत की धरती से उसका आशय है? इस प्रकार प्रश्नोत्तर चलते रहते। यहाँ तक कि वे छ.बकर मुझसे कहने लगते कि मैं ही बताऊँ। मैं इसका यत्न करता और बताता कि भारत वह सब कुछ है जिसे कि उन्होंने समझ रखा है। पर वह उससे बहुत अधिक है। भारत की नदियाँ, उसके पर्वत, बन और खेत, जो हमें अन्न प्रदान करते हैं, ये सभी हमें प्रिय हैं। पर अन्त में जिनकी गणना है वे हैं भारत के लोग, उनके और मेरे जैसे लोग, जो इस समूचे देश में फैले हुए हैं। भारतमाता वास्तव में यही करोड़ों लोग हैं और 'भारतमाता की जय' का आशय हुआ इन लोगों की जय से। मैं उनसे कहता हूँ कि तुम इस भारतमाता के अंश हो, एक प्रकार से तुम ही भारतमाता हो, और ज्यों-ज्यों ये विचार उनके मन में बैठते, उनकी आँखों में चमक आ जाती, इस प्रकार मानो उन्होंने कोई बड़ी खोज कर ली हो।''

किसी भी युग में भारतमाता स्थिर और गतिहीन नहीं रही। कहां ईरानी, कहां मिछी? कहां यूनानी, कहां चीनी, अरब, मध्य-एशियाई और भूमध्यसागर के लोग? सभी भारतमातासे चिरपरिचित रहे हैं। सांस्कृतिक आदान-प्रदानपर भारतमाताको सदैव गवँ रहा है।

भारतमाता, तेरे अतीत को शत-शत प्रणाम, तेरे वर्तमान को प्रणाम, तेरे भविष्य को प्रणाम।

निर्देशिका

अंगिया, ११२, ११५, ११६, ११७
 अंग्रेजी राज, १२२; अंग्रेज का जादू, ०७२
 अखरोट, १६०, १७२
 अठारहवीं शताब्दी, ६२, १४१
 अपभ्रंश, १७५
 अप्सरा, ५८, ६२
 अफगानिस्तान, २६, ३१
 अमरकोष, ३१
 अमरापुर, ४७
 अमलतास, १६
 अलकनन्दा, १७५
 'अलीसेर', ६०
 अश्वमेध, ३०
 असारे गीत, १४८
 अहिंसा, ७१
 आदिम निवासी, १०, १५
 आन्ध्र, १७७; आन्ध्र लोकगीत, १७७
 आबियाना, ६७
 आभा, ४८
 आर्थर, इब्न अली, ७
 आर्थर वैली, ७
 आर्य सभ्यता, ६, १०
 आराकान, ४७
 आल्हा, १०६, ११०
 आसाम, २६, ४३, ४५, ६१, १७५
 हन्द्र, १३, १७, १८, १६, २२-२४, ३०, ४६
 हन्द्रयात्रा, १४५
 ईंडरी, १०५
 ईल, ८५

ईरान, १६५
 ईरावती के गीत, ५०-५३
 ईसाई धर्म, ५६
 ईसा मसीह, ६१
 उत्तरायण, ६२
 उदयगिरि, ३७
 उरोज, ११६, १२३
 उषा (वाणासुर की कन्या), १७७
 अग्नेवद, १८
 एकतारा, ६३
 एशिया पत्रिका, २
 ऐडू जू, सी० एफ०,
 ऐरावत, ४६
 ओदनी, ११२, १६५
 कच्छ, २६
 कजली, १७७
 'कड़ा' गीत, ८४
 कन्दे स्वामी, ७०, ७१
 कन्नड़ भाषा, १२८
 कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, २, १७५
 कन्याकुमारी, ४, ३१
 कपफू पक्षी, १६१
 कदूतर, ६५, १५४
 करघा, १८२
 कर्नाटक के लोकगीत, १५५
 कलकत्ता, १४०
 कला-भवन, (शान्ति निकेतन) ६२

धरती माती है

'कली' गीत, ८४
 कल्लू, ११४, ११५
 कविता कौमुदी, (ग्राम-गीत), १३५
 कस्तूरी, १७४
 कहरवा, १४१
 कहार, १४२
 काँगड़ा जिला, १३७
 काका कालेलकर, ४६, ५५, ६८, ६९
 काठमण्डु, १४४, १४५
 काठियावाड़, २
 कान्हा घँघरे का राज़रा, ११८
 कापसे रेवणा नवरू १२६
 काफल (जंगली फल), १६०, १६१
 काफ़िरस्तान, २६
 कार्तिक के गीत, ११६
 काला पहाड़, १६५
 कालिदास, ५६
 काली नदी, १४४
 कावेरी, ३३, १८४
 काश्मीर, ३१, ३५
 किंकर दा, ६२
 किसमिस, ६१
 कितिमोहन सेन, ६०
 कीर सागर, ७
 कुमारियों की होली, १६७
 'कुरसी' फूल, ६४
 कुर्ग के गीत, ३३
 कृष्ण बलदेव वर्मा, स्व०, १२१
 कृष्णानन्द गुप्त, १७८, १०६, ११०
 करारनाथ, १७५
 केरल, १७७
 के-लौंगमा गीत, १४६
 केवड़ा, १०४
 कैप्टन नौर्दे, १४६
 कैलास, १२६, १२७, १२८, १२९
 कौठ गीत, १८१, १८२
 कोलम्बो, ६५, ६६, ७०, ७१, ७२, ७३
 कोहरा, १६५, १७०
 क्रौंच मिथुन, २८
 कौशल्या, १३५, १३७
 खंजड़ी, १३५

खलिहान, १७२
 खाहर प्रदेश, ८१
 खानाबदोश, ६
 खासी लोकगीत, ३३
 गंगा, ३०, ३१, ३३, ३७, ६०, ८३, १५६
 १७२, १७५
 गढ़वाल गज़ेटियर, १६१
 गढ़वाली गीत, ३४, १६१-७५
 गह्रियों का स्वदेश प्रेम, ४३
 गरबा, १०६, १७५
 गरीबी का गान, ६७
 गश्ती गायक, ६५
 'गाइने' गायक, १४६
 गाय, १५४, गौओं का गोठ, १६६
 गाय-यात्रा, १४५
 गारी, ११६
 गिद्धा-नृत्य, १३
 गुजरात, ४०
 गुजराती भाषा, २
 गुजराती लोकगीत, १२, १००-१०६
 गुप्तकाल, ३२, ३७
 गुनसूर उदयगिरि, १८१
 गुरुंग जाति, १४४, १४५
 गेहूँ, १२३, १६५
 गोकुलदास रायचुरा, ६८
 गोरखाली (नेपाली) भाषा, १४४
 गोरखा सैनिक, १५६
 गोलकोण्डा, १७७
 गौरिया चमारिन, ११४
 ग्यारहवीं शती, १४५
 ग्लेशियर, १४३
 ग्वाल्लों के गीत, १६५
 ग्रामदेवता, ५
 घीमी लौंदो' आलाप, १७१
 चन्दन, ६०
 चम्पा, १०४
 चम्बा के पहाड़ी गीत, २१
 चरखे के गीत, १७५
 चरागाह, १३४

चाँदनी, ११५
चिरगांव, १०७
चीनी लोकगीत, ७
खनरी, १०३
चूल् जंगली फल, १६०
चैते गीत, १४८, चैत्र मान, १६५
चोली, १५५
चौखम्बा, १७५
चौदहवीं शती, १४५
चौफला गीत, १६२
चौमासा गीत, १६२
छिंदविन नदी, ४८
छिरौना गाम, १०८
जन्मभूमि, १२, १४, २८, २९, ३२, ३३,
३४, ३६, ३७, १५१
जमुलिया बरेठन, १२२
जर्मन, ६३, ६४
जवाहरलाल नेहरू, १७४, १८५
जहाज़, १३६,
जहार, ६१
जागर गीत, १६२
जाट लोकगीत, ८२, ६७
जाट, (बांगरू), भाषा ८२
जापानी लोग, ५६
जुगनू, ६५, १५०, १८१
जुबारी गीत, १४६, १४७
जुरमाना, १२३
जेल खाने, १२२
जौ, १६५
जौनपुर, १४०
ज्योतिषी, १५७
संफोटी गीत, १६
सयाउरे गीत, १४७
सुमैल्लो गीत, १६१, १६५
सुमैल्लो नृत्य, १६६
सुलमी, १७७
टीकमगढ़, १२२
टेल्, १६
ठाकुर रामसिंह, ७

ढोल, ६३
ढाक का पेड़, १६४, १३५
तकला, १७६
तराई, १४४, १४६
तलवार, १०६
तहसीलदार, ११२
ताजिक प्रजातन्त्र, २६, ३१
तानसेन, १७
तामिल, ७०, ७१; तामिलनाडु, १७७
तामिल लोकगीत, १८३, १८४
तिब्बत, १४४, १५६
तिरहुत, ३३
तिलोत्तमा, ५८
त्रिजन, १७६
त्रिशूल, १७५
थाबीटाकिन शहर, ४६
दर्पन, १५६
दशरथ, १३७
दहलीज़, १६५
दक्षिण समुद्र का मोती, १८५
दादरा, १११, १२२
दार्जिलिंग, ६१
द्वारकानाथ, १२४
दिवाली, ११८
दीपक राग, १७
दीपावली, १५५
दीपचन्द्र, ६२, ६४
दुतारा, १७१
दुर्गादास जाह्नवी, १३०
दुर्गापूजा, १४७
दूध, १५८, १७२
देउसी गीत, १४७, १५८
देवप्रयाग, १७५
देश की याद (गीत), १६८
धनसिंह का गीत, ११६
धरती माती, १०, १४, ६४, १४६
धोती, १०३
ननद, १५५
नन्दलाल वसु, १५, ५७

धरती गाती है

नन्दादेवी, १७५
 नन्हे धोबी, ११६, १२१
 नरोत्तमदास स्वामी, ७
 नरौना ग्राम, १०६
 नवजात पुत्र, १३४
 नहरापुर, ८१
 नानी फूल्यौने गीत, १४८
 नारद, २८
 नीम, ११४
 नेपाल के गीत, ३३, १४७-५६; नेपालीग्राम
 १४३; नेपाली लोकोक्तियाँ, १४६
 नेवार जाति, १४४
 नैहर, १५२, १५४
 नीरता गीत, ११७
 पंचवटी, १०५
 पंजाबी लोकगीत, १३, २०, ३४, ३५, ३६,
 ४१, ४३, ७६, ७७, ७८, ७९, ११३,
 १२५, १७६
 पंवारि गीत, ११७, १६१
 पट गीत, १६२
 पटवारी, ११२
 पतिहारिन, १०५
 पर्जन्य, १५
 'पसर' का गीत, ११५
 'पहाड़ी' ग्राम, ११०
 पांडोरी ग्राम, ११४
 पाटन नगर, १४४
 पाणिनि, ३२
 पार्वती, १०३; पार्वती का गीत, १६७
 पालक की बाड़ी १६७
 पालकी, १४१, १४२
 पालना, १८२
 पीगूयोमा, ४७
 पीतल से लोहा, १७१
 पीताम्बर, १५८
 पीपल, ७८, ११६, १४६, १५८
 पुरवा बहिन, २६
 पुरातत्व, ५६
 पुरानी ठेरी (टीकमगढ़), ११६
 पुलिस की चौकियाँ, १२२
 पृथ्वी सूक्त, ६, १२

पृथ्वीराज, ११०
 रैगोडों के खंडहर, ४८
 पोक्चू शहर, ४८
 पोखरी गाँव का देवता, १६२
 पौड़ी नगर, १६३, १७५
 पौराणिक युग ३०, ३१
 प्रयाग, १४०
 फाग, ११०, ११८
 फ्रेजर, १२
 बंगाल, ४०, 'बांगालीर गान', बंगला कविता
 संग्रह (१९०५), १२०
 बदखां, २६, ३१
 बद्रीनाथ का गीत, १६६, १७५,
 बघाई, ११७,
 बनारसीदास चतुर्वेदी, ७
 बनिया, १२३
 बलराज साहनी, ७
 बल्लू, २६, ३१
 बलोचिस्तान, १०, ३१, १४१
 बल्लिया, १३७
 बांगर, ८१
 बांसुरी, ५५, ६२, ६३, ६४, ७२
 बाघ का शिकार, १५६
 बाजरा, ८७
 बाजुबन्द गीत, १६२, १७१, १७२
 बाबा के गीत, ११६
 बालुन गीत, १४७
 बारामासे गीत, १४७, १६२, १७६
 बाल्मीक, २८, ६८
 बिंदुली, ११५
 बिबली रानी का गीत, १५७
 बिलवारी, ११८
 बोकानेर, २४, १८१
 बुन्देली लोकगीत, १०, १२, १०८ १२३
 बैल, १२३, १२५; बैल का कन्ह गीत, १२६,
 २६; बूढ़े बैल का गीत, ६५, ६६
 बोहद गाँव, ६०
 बौद्ध भिक्षु, ७१
 ब्रजमोहन वर्मा ७
 ब्रह्मा, ५८

धरती गाती है

भंडारी राजपूत, १२७
 भटियाल, १६
 भरती-गान, ६६
 भवभूति, ५६
 भोंडेर गाम, ११४
 भाटगाँव नगर, १४४
 भामो, ४६
 भारत की फौज, १५६
 भारतमाता, ४, ३२, १७५, १८५, १८६
 बुना हुआ अनाज, १७०
 भूपेन्द्रनाथ दत्त, ६०
 मैसों की भीड़, १६६
 भैरव-यात्रा, १४५
 भैलो गात, १४७
 मक्खन का चक्का, १७०
 मगर जाति, १४४
 मधु, १६०
 मनमोहन घोष, ६०
 मन्नु मराठी, ११२
 'मल्लिगे दण्डे' (फूलों का गुच्छा, कन्नड़ लोक
 गीत-संग्रह), १२६
 मल्हार, १६, १७
 मलेथ गाम का गीत, १६६
 मसूरी, १७३
 महाभारत, २६, ३२
 महाराष्ट्र, ४१
 माहका नदी, ४७
 मांगलगीत, १६१, १६५
 माइन रिब्यू, १
 माता देई (शीतला), ६०
 मातृभूमि की कल्पना, १२, ३०
 मायका, १४२, १७१
 मालाबार, ४
 मालिका, ४७
 मजिअन बन्दरगाह, ४८
 मूँगा का गीत, १७०
 मेंहदी, ६६
 मेघदूत १५
 मेघाणी, २, १६, १०२
 मेवासिन रानी का गीत, १७
 मेजर ब्रुक, १४६

मेले, १४०, १४५, १७५
 मैक्सिम गोर्की, १२५
 मैथिली लोकगीत, १६
 मैथिलीशरण गुप्त, १०७, १०८, १११, ११२
 ११३
 मोतीचन्द्र, ६१०, १०, ११, ३०, ३१, ३२
 मोपक, ४६
 मोहंजोदारो, ५६
 यजुर्वेद, १५
 यमुना, ३०, ३३, ३७
 रणजीतराय मेहता, स्व०, ६८
 रथ-यात्रा, १४५
 रवीन्द्रनाथ ठाकुर, १५, ४७, ४८, ५६, ७०
 ७२, ७६
 रसिया, ११४, १४७
 रहीम, १४१
 'रागनी' ६१
 राजस्थानी लोकगीत, २२, २८, ३६, ३७
 १००, १७६
 राम, ३२, १०१, १०५, १३५
 रामकृष्ण सिंह 'राकेश' ७, १६, २०
 रामकृष्ण शर्मा, ११३
 रामनरेश त्रिपाठी, ७, १३५, १४०
 रामसिंह, ठाकुर, ७
 रामायण, २८, २६, ३२, ६८, १०३,
 रावण, ६८, ६६, ७०, १०५
 रावल 'गीत' ११२
 रेल, १३६
 'रोबी घर' नृत्यशाला, १४५, १४६
 लंहगा, ८५, १८२
 लक्ष्मण, १०१, १०५
 लगान, ११२, १२३
 लहरों की कहानी, ६६
 लॉगमा गीत, १४६
 लास्य नृत्य, १७७
 लिथुआनिया, ५६, ६०
 लिथु जाति, १४५, १४६
 लोक-मानस, १, ५, ५६, १७७, १८५
 लोकवाक्ता, २, ६, १६५

धरती गाती है

लोकसाहित्य, १४

लोरियाँ, १६१

ल्हासा, १२६

वृन्दावन, १०१, १०२

वट-वृक्ष ७४, ७६, ८०, १२८

वर्षा ऋतु, १२

वर्षा मंगल, १६

वसन्ती गीत, १६१, १६२

वाणासुर, १७७

वासुदेवायन (अज्ञेय), ७

वासुदेवशरण अग्रवाल, ७

विन्ध्याचल, ३१

विरदावलियाँ, १६२

विशाल भारत, ३

विष्णुपुराण, ३०; विष्णु, ६७

वेरियार एलविन, ७, १२

वन के गीत, १७, ३४

शतपथब्राह्मण, १०, ३०

शान लोग, ४८

शान्तिनिकेतन का जन्मदिन २७, ६१

शारंगधर, १७७

शाहजहाँ, ६६

शिकारी, १३१, शि राय १७१

शान् लतीफ, २१

शिकिम, १४४

शिमले की पहोड़ियाँ, १३७

शिव १०३, १२६, १६८

शिवदान सिंह चौहान, ७

शिकारी, १३१, १३८; शिकार, १७१

श्यामाचरण, दुबे, ७

संथाल, १२, ६०, ६१; संथाल लोकगीत, २२

२७, ६२, ६३, ६४

संस्कृत कवि, १३३

सदानन्द, ४७, ४८, ४९, ५०, ५३

सदेई का गीत, १६२, १६३

सरिहल रानी, ८६

सवाई गीत, १४७

सवाई दुलहन, १४४

ससुगल, १४२, १६२, १६, १६८

सागर, ६४

सांगी, गायक ८३, ८४

सारंगी, ८४, १४६, १७१

सागर, ६२, ७०, ७३

साजन, ११७

सावन में बियाई हुई भैंस, १७०

सास, १२४

साहूकार, १७६

सिंहल (लंका), ३६, ६७, १४१; सिंहाली, ६८

सिंहाली लोकगीत, ६८, ७२

सिपाही, १२६

सिन्दूर, १२१, १२२, १२२

सिन्धी लोक-संगीत, २१

सियारामशरण गुप्त, १०८, १११

सीता, १०२, १३२, १३७

सीप, १८२

सीमाप्रान्त, २६

सुनवार जाति, १४२

सुन्दरम्, २६, २७,

सूरा (उत्तरी हवा), २६, २७

सूर्यकरण पारीक, ७

सोने की धूपदानी, १६२; सोने से पीतल

१७१

सोरटी नृत्य १४२; सोरटी गीत १४६

सोहरे, ११६; सोहर, १३३

सौराष्ट्र, १७७

स्टैन कौनो, १४२

स्वतन्त्र भारत, १७४

स्वराज्य, १७४

हंसली, १७६

हंसिया, १७३

हजारी प्रसाद द्विवेदी, ७, २८

हनुमान, ६८

हरियाना, ८१

हाव पारा गीत, १४६

हाथी, १२४

हाथीकुंड, १६१

हिंदुकुश, २६

हिमालय, २६, ३१, ३२, ३३, १४१, १४६,

हिमाचल, १४३

हिरन, १३२, १३७; हिरन का गीत, १३५;

हिरनी, १३१, १३२, १३७

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अव्राप्ति सं०

Acc. No.....

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

कर दें।
Please return this book on or before the date last stamped
below.

[illegible]

GL H 398.2
SAT



122153
LBSNAA

398.2
सत्यार्थी

~~14816~~

अवाप्ति सं.

ACC No.....

वर्ग सं.

पुस्तक सं.

Class No..... Book No

लेखक

सत्यार्थी, देवेन्द्र

Author.....

शीर्षक

धरतो जातो है : एक

Title.....

लोकगीत अध्ययन ।

निर्गम दिनांक

उधारकर्ता की सं.

हस्ताक्षर

Date of Issue

No.

398.2

~~14816~~

सत्यार्थी

LIBRARY

LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No. 122153

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving